भर्तृहरि शतकम्

आचार्य जगदीश विद्यार्थी

॥ ओ३म् ॥

भर्तृहरिशतकम्

लेखक

आचार्य जगदीश विद्यार्थी
एम० ए०, साहित्यरत्न

आर्य प्रकाश पुस्तकालय
२७३०।१ चौक राय जी, रोशनपुरा,
नई सड़क, दिल्ली-६

सार्वदेशिक आर्यमहासम्मेलन

प्रथम बार] मई १९७२ [मूल्य २.००

□ श्री सेठ चेतनदेव अस्वानी
दी धन्नामल सिल्क मिल वारछा रोड, सूरत ने १००० रुपये साहित्य-सहायतार्थ दिये हैं। हम उनके आभारी हैं।

□ श्री वेढ़ाराम जी आर्य
सुदर्शन स्टेशनरी मार्ट, ८६६ सदाशिव पेठ, पूना-२ ने ५०० रुपये साहित्य-सहायतार्थ दिये हैं। हम उनके आभारी हैं।

□ मेल्हुमल नारायणदास कटारिया
जैतपुर-निवासी ने ५०० रुपये साहित्य-सहायतार्थ दिये हैं। हम उनके आभारी हैं।

□ श्री चेतराम राजभोज
गोंदिया-निवासी ने २५० रुपये साहित्य-सहायतार्थ दिये हैं। हम उनके आभारी हैं।

प्रकाशक □ आर्य प्रकाश पुस्तकालय
२७३०/१, चौक रायजी,
रोशनपुरा, नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक □ स्वतन्त्र कम्पोजिंग एजेंसी
दूबे प्रिंटिंग प्रेस, गान्धीनगर,
दिल्ली-३१

संस्करण □ प्रथम
सार्वदेशिक आर्यमहासम्मेलन
मई १९७२

मूल्य □ दो रुपये

ओ३म्

प्रातः-सायं दोहराएँ !

हे परमेश्वर सर्वेश्वर ! हमारे पास सब-कुछ आपका ही दिया हुआ है ; हमारा अपना कुछ नहीं । आपसे प्रार्थना है कि आप हमको सदा सच्चे मार्ग पर चलाएँ तथा सद्बुद्धि प्रदान करें जिससे हम आपके बनाये हुए प्रत्येक जीवधारी का कल्याण कर सकें और उनका दुःख दूर करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें ; प्रत्येक प्राणी को हम सहोदर समझें तथा उसकी उन्नति में सहायक हों ; हमारे मन में हमेशा पवित्र भावनाएँ पैदा हों जिससे हम आपके संसार में पवित्र भावना का प्रसार कर सकें; वासना तथा द्वेष से हमें हमेशा दूर रखें ; हमारी हर प्रातः शान्तिदायिनी एवं आनन्दमयी हो ; हम आपसे यही वर चाहते हैं। आपकी ज्योति चहुँ ओर फैल रही है ; उसी ज्योति के सहारे हम जीवन-यापन कर रहे हैं। हे प्रभो ! हमको वह शक्ति प्रदान करो कि हम दुःख को सुख समझें और दुःखी होते हुए भी अपने कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ रहें। किसीका अहित न करें। आपसे यही प्रार्थना है। हे सर्वशक्तिमन् ! हमारी प्रार्थना यही है कि हम हमेशा, हर परिस्थिति में आपको स्मरण करते रहें और आप हमें सच्चा मार्ग दिखाते रहें तथा हमारी बुद्धि को सुपथ में प्रेरित करते रहें !

विषय-सूची

भूमिका

भर्तृहरि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए पाश्चात्य लेखक आर्थर डब्ल्यू राइडर [Arthur W. Ryder] ने लिखा है—

In short verses the Hindus excel. Their mastery of form, their play of fancy: their depth and tenderness of feeling are all exquisite. Of the many who wrote such verses, the greatest is Bhatrihari.

—[An Anthology of World Poetry,
Edited by M. V. Doren, Cassell]

छोटे-छोटे पद्य अथवा श्लोक लिखने में भारतीय सबसे आगे हैं। उनका रीति पर अधिकार, उनकी कल्पना शक्ति की उड़ान, उनकी अनुभूति की गहराई और कोमलता—सभी अत्युकृष्ट हैं। जिन अनेक व्यक्तियों ने ऐसे पद्य लिखे हैं भर्तृहरि उनमें मूर्द्धन्य हैं।

नीति, शृंगार और वैराग्यशतकों का रचयिता यह भर्तृहरि कौन था ? महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। जनश्रुति के आधार पर वे महाराज विक्रमादित्य के ज्येष्ठ भ्राता थे। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने 'वाक्यपदीय' के कर्त्ता भर्तृहरि नाम के वैयाकरण की मृत्यु ६१५ ई० में लिखी है। उसने यह भी लिखा है कि भर्तृहरि वैखानस =संन्यास-जीवन के आनन्द की तथा गृहस्थ-जीवनके प्रमोद की रस्सियों से

बने झूले पर सात बार इधर से उधर झूलते रहे। पाश्चात्य अन्वेषक इत्सिंग के कथन में आस्था रखते हुए वैय्याकरण भर्तृहरि और नीति आदि शतकों के रचयिता को अभिन्न मानते हैं। परन्तु भर्तृहरि के शतक डिण्डिम घोष से साथ कह रहे हैं कि भर्तृहरि बौद्ध नहीं अपितु वैदिकधर्मी था। वैदिकधर्म के आचार, विचार, पद्धति और प्रक्रिया पर उन्हें पूर्ण विश्वास था।

भर्तृहरि का प्रत्येक श्लोक लावण्यमयी एक तन्वी कविता है।

'नीतिशतक' में मनुस्मृति और महाभारत की गम्भीर नैतिकता कालिदास की-सी प्रतिभा के साथ प्रस्फुटित हुई है। विद्या, वीरता, दया, मैत्री, उदारता, साहस, कृतज्ञता, परोपकार-परायणता आदि मानव-जीवन को ऊँचा उठाने वाली उदात्त भावनाओं का उन्होंने बड़ी सरल एवं सरस पदावली में वर्णन किया है। इसमें जिन नीति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे संसार के मानव-मात्र के लिए भूषण-रूप हैं।

'शृंगारशतक' में कवि ने शृंगार का चटकीला चित्रण किया है। इस शतक में कवि ने ललित-मधुर शैली में यह दिखलाया है कि स्त्रियाँ अपने आकर्षण द्वारा पुरुषों पर कैसा जादू कर देती हैं। शूर-से-शूर पुरुष भी काम-का गर्व चूर कर देने में असमर्थ है।

'वैराग्यशतक' में कवि ने कारुण्य और निराकुलता के साथ संसार की निस्सारता और वैराग्य की आवश्यकता प्रतिपादित की है। संसार एक विचित्र पहेली है—कहीं वीणा का सुमधुर संगीत सुनाई पड़ता है, कहीं सुन्दर रमणियाँ दीख पड़ती हैं तो कहीं कुष्ट-पीड़ित शरीरों के बहते हुए घाव, अतः पता नहीं कि यह संसार अमृतमय है या विषमय, वरदान है या अभिशाप।

शरीर के जर्जर हो जाने पर भी भोग-तृष्णा समाप्त नहीं होती परन्तु भोगों में रोगों का भय है अतः वैराग्य का आश्रय लेने पर ही अभय की प्राप्ति हो सकती है। भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही श्रेयस्कर है।

भर्तृहरि की शैली प्रसाद गुण सम्पन्न और मँजी हुई है। उसमें ओज और प्रवाह है, पदलालित्य और भावप्रवणता है। भाषा सरल, सुबोध और स्वा-

भाविक है। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं प्रत्यक्ष सत्यों को भर्तृहरि ने बड़े मनोरम एवं हृदयहारि रूप में प्रस्तुत किया है। कहीं नीति के उदात्त उपदेश हैं, कहीं रमणियों के रूप विलास का चित्रण और कहीं वैराग्य का शुभप्रकाश द्योतित हो रहा है। छन्दों की विविधता, विषय की रोचकता और सूक्तियों की सुन्दरता भर्तृहरि के काव्य को निस्सन्देह सर्वगुणसम्पन्नता प्रदान करती है।

प्रस्तुत पुस्तक में भर्तृहरि के तीनों शतकों का अनुवाद प्रस्तुत है। इन शतकों पर बाजार में कोई उत्तम अनुवाद उपलब्ध नहीं था। जो हैं वे घटिया कागज पर और रद्दी छपे हुए हैं। इसी कमी को अनुभव करते हुए यह अनुवाद पाठकों के करकमलों में समर्पित है। पुस्तक में स्थान-स्थान पर पादटिप्पणियाँ और विशेष वक्तव्य लिखकर हमने इसकी उपयोगिता को और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया है। श्लोकों की अनुक्रमणिका भी दे दी गई है जो विद्वानों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगी।

वेद-सदन
एच १/२ माडल टाउन,
दिल्ली-९
एकादश आर्यमहासम्मेलन
मई १९७२

आचार्य जगदीश विद्यार्थी

श्लोकानुक्रमणिका

श

स

ओ३म्

नीतिशतकम्

मङ्गलाचरणम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

दिशाओं [पूर्व, पश्चिम आदि] और काल [भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्] आदि की सीमाओं से रहित, अनन्त एवं चैतन्यस्वरूप, आत्मानुभव से ही जानने योग्य, शान्त एवं तेजःस्वरूप परब्रह्म को नमस्कार है।[1]

---

१. इस मंगलाचरण के पश्चात् किन्हीं पुस्तकों में निम्न श्लोक उपलब्ध होता है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥१॥

मैं अपने चित्त में रात-दिन जिसकी स्मृति संजोए रहता हूँ वह बाला मुझ से प्रेम नहीं करती, वह किसी और पुरुष पर मुग्ध है। वह पुरुष किसी अन्य स्त्री में आसक्त है। उस पुरुष की अभिलषित स्त्री मुझ पर प्रसन्न है। अतः रानी को, रानी द्वारा चाहे हुए पुरुष को, उस पुरुष की चाही हुई वेश्या को तथा मुझे धिक्कार है और सबसे अधिक कामदेव को धिक्कार है जिसने यह सारा कुचक्र चलाया।

यह श्लोक नीतिशतक में प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता अतः हमने इसे मूल-पाठ में न देकर पाद-टिप्पणी में दिया है। [शेष अगले पृष्ठ पर]

अज्ञनिन्दा

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥२॥

अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है, ज्ञानी को और भी सरलता से समझाया जा सकता है किन्तु ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध [थोड़ा जानकर ही अपने को पण्डित मानने वाले] को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता ।

विशेष—दुनिया में डेढ़ अकल, एक मेरे पास आधी में सारी दुनिया—ऐसा समझने वाले व्यक्ति को ज्ञान-लव दुर्विदग्ध कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता। तुलसीदासजी ने भी कहा है—

फूलइ फलइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम ॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥३॥

मनुष्य घड़ियाल [मगरमच्छ] की नुकीली दाढ़ों के अन्दर से बलपूर्वक मणि निकाल सकता है, चंचल लहरों से विक्षुब्ध समुद्र को भी तैर सकता है, क्रुद्ध किये हुए [छेड़े हुए] साँप को पुष्प-हार की भाँति सिर पर धारण कर सकता है। [चाहे ये असम्भव बातें सम्भव

ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार उज्जयिनी के एक ब्राह्मण ने किसी महात्मा से एक अद्भुत शक्ति रखने वाला फल प्रसाद में पाया । धन-प्राप्ति की अभिलाषा से उसने वह फल महाराज भर्तृहरि को भेंट कर दिया। महाराज को अपनी रानी से बहुत प्रेम था, उन्होंने वह फल महारानी को दे दिया। रानी की आसक्ति किसी कोतवाल पर थी, उसने वह फल उसे जा दिया। कोतवाल किसी वेश्या से प्रेम करता था, उसने वह फल वेश्या को दे दिया। वेश्या ने वह फल राजा की सेवा में समर्पित कर दिया।

इस श्लोक में महाराज भर्तृहरि ने उसी आपबीती का चित्रण किया है।

हो जाएँ] किन्तु बुराइयों में फँसे हुए हठी मूर्खों के चित्त को कोई नहीं हटा सकता।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

प्रयत्नपूर्वक पेलने पर चाहे बालू-रेत से तेल निकल आये, प्यास से व्याकुल मनुष्य को चाहे मृगमारीचिका से जल प्राप्त हो जाए, और इधर-उधर घूमकर ढूँढ़ने पर चाहे मनुष्य को खरगोश के सींग भी मिल जाएँ परन्तु हठी मूर्खों का सुधारना सर्वथा असम्भव है।

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुंवाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥५॥

जो मनुष्य अमृतमय मधुर वचनों से दुष्टों को सन्मार्ग पर लाना चाहता है वह कोमल कमल-नाल के तन्तुओं से मदमत्त हाथी को बाँधना चाहता है, शिरीष-पुष्प की पंखड़ी से हीरे को काटना चाहता है?[1] और शहद की एक बूँद से खारे समुद्र को मीठा करना चाहता है।

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा
विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे
विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥६॥

परमात्मा ने मौन रहना अपने अधीन और सदा लाभ पहुँचाने वाला एक ऐसा गुण बनाया जो मूर्खता को ढके रखता है, उसे

---

१. किसी उर्दू के कवि ने भी कहा है—

फूल की पत्ती से कट सकता है हीरे का जिगर।
मर्द नादाँ पर कालामे नर्मो-नाजुक बे-असर ॥

प्रकट नहीं होने देता। यह मौन विद्वत्-समाजमें मूर्खों के लिए विशेषरूप से आभूषण बन जाता है।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥७॥

जब मैं अल्पज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथी की भाँति मैं घमण्ड से अन्धा हो गया था और मैं यह समझता था कि "मैं सब कुछ जानता हूँ"—परन्तु जब बुद्धिमानों के संसर्ग से कुछ-कुछ ज्ञान हुआ तब पता चला कि 'मैं तो मूर्ख हूँ'—उस समय मेरा अभिमान ज्वर की भाँति उतर गया।

विशेष—कहते हैं एक बार किसी व्यक्ति ने महान् दार्शनिक सुकरात की बड़ी प्रशंसा की। सुकरात ने कहा—"मैं तो परले दर्जे का मूर्ख हूँ बस अन्तर इतना है कि मैं अपनी मूर्खता को जानता हूँ और आप नहीं जानते।"

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥८॥

कीड़ों से भरी हुई, लार से भीगी हुई, दुर्गन्धयुक्त, घृणास्पद तथा मांस-रहित मनुष्य की हड्डी को बड़े प्रेम से खाता हुआ कुत्ता पास खड़े हुए इन्द्र को देखकर भी लज्जित नहीं होता। ठीक है, क्षुद्र प्राणी अपनी अपनाई हुई वस्तु की तुच्छता पर ध्यान नहीं देता।

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥९॥

गङ्गा स्वर्ग से महादेवजी के सिर पर गिरी, शंकर के सिर से हिमालय पर, हिमालय से पृथिवी पर और पृथिवी से समुद्र में जा गिरी। इस प्रकार क्रमशः यह नीचे ही गिरती गई। ठीक इसी

प्रकार विवेक भ्रष्ट मनुष्यों का भी अनेक प्रकार से पतन होता है।

विशेष—गंगा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों में बहुत मतभेद है। गंगा-अवतरण के आलंकारिक वर्णन को न समझकर लोगों ने मिथ्या कल्पनाएँ कर लीं। वस्तुतः आकाश से जो बर्फ के गाले हिमालय के ऊपर पड़ते हैं वही गंगा का शिव के सिर पर गिरना है। शिव कोई स्वर्गीय देवता नहीं है अपितु हिमालय का ही नाम है। इसके लिए दो प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. हरद्वार नाम—हरद्वार का अर्थ है हर का द्वार। यहाँ से ऊपर हिमालय को जाते हैं। यदि हिमालय का नाम 'हर' न होता तो इसका नाम हरद्वार न होकर कुछ और होता।

२. शिवालक पर्वत—हिमालय की एक शाखा देहरादून-अम्बाला की ओर फैली हुई है। इसका नाम है शिवालक। अलक का अर्थ होता है जटाएँ, सिर के बाल। यदि हिमालय का नाम हर या शिव न होता तो इस पर्वत-शाखा का नाम शिवालक न होता।

गंगोत्री, जहाँ से गंगा निकली है, उसके आस-पास के प्रदेश में जटामाँसी बूटी, जिसका दूसरा नाम जटा भी है, का विशाल वन है। यहाँ से निकलने के कारण यह प्रसिद्ध हो गया कि यह जटाओं से निकली है, जो यथार्थ ही है।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥१०॥

अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है। सूर्य के तीव्र-ताप को छाते से रोका जा सकता है। मदमस्त हाथी को तीखे अंकुश से वश में किया जा सकता है। बैल और गधे को डण्डे से सीधा किया जा सकता है। रोगों का निवारण नाना प्रकार की औषधियों से हो सकता है। विष अनेक प्रकार के मन्त्रों [उपायों] द्वारा उतारा जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रों में सभी रोगों को औषधियों का विधान है परन्तु मूर्खों को सीधा करने अथवा सज्जन बनाने की कोई औषधि नहीं है।

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणन्न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥११॥

जो मनुष्य साहित्य, सङ्गीत-शास्त्र [गाना, बजाना तथा नाचना] और कलाओं [शिल्प आदि] से अनभिज्ञ है वह बिना पूंछ और सींग का पशु ही है। यह मनुष्यरूपी पशु बिना घास खाये ही जीवित रहता है यह प्राकृत पशुओं के लिए बड़े सौभाग्य की बात है, अन्यथा यह पशुओं का चारा और घास ही समाप्त कर देता।

विशेष—साहित्य, सङ्गीत आदि मानव को मुग्ध कर देते हैं। यहूदी मेनुहिन को वाद्ययन्त्र बजाते पाकर महान् विज्ञानवेत्ता आइन्स्टाईन ने एक बार कहा था—"आपने मेरे लिए सिद्ध कर दिया कि ईश्वर है।"

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १२ ॥

जिन मनुष्यों में न विद्या है न तप, न दान की भावना है, न ज्ञान है, न शील, न जीवन में उत्तम गुण हैं और न धर्म, वे पृथिवी पर भाररूप पशु ही हैं जो मनुष्य के रूप में विचरा करते हैं।

विद्वत्प्रशंसा

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१३॥

दुर्गम पर्वतों और जंगलों में जंगली लोगों के साथ अथवा पशु-पक्षियों के साथ घूमना अच्छा है परन्तु मूर्खों के साथ इन्द्र के भवनों में रहना भी अच्छा नहीं है।

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१४॥

शास्त्रों के अनुशीलन से सुन्दर एवं अलंकृत वाणी का प्रयोग करने वाले तथा शिष्यों को शास्त्रों का उपदेश देने वाले प्रसिद्ध कवि भी जिस राजा के राज्य में निर्धनता से दुःखी होकर निवास करते हैं तो इससे राजा की मूर्खता ही सिद्ध होती है। कविगण तो धन के बिना भी विद्यारूपी धन से समलंकृत हैं। यदि जौहरी मणि का ठीक मूल्य नहीं आँकता तो इसमें जौहरी की ही मूर्खता है मणि की नहीं।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनम्
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥१५॥

जो चुराने वाले को दिखाई नहीं देता, जो सदा अनिर्वचनीय सुख और शान्ति को बढ़ाने वाला है, जो चाहने वालों [विद्यार्थियों] को नित्य देने पर भी घटने के स्थान में परम वृद्धि को प्राप्त होता है, जो प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता—ऐसा विद्यारूपी गुप्तधन जिसके पास है ऐ राजाओ ! उनके प्रति अभिमान छोड़कर व्यवहार करो क्योंकि उनकी स्पर्धा [तुलना या दबाने की इच्छा] करने वाला कौन है ?

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था–
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१६॥

[हे राजन् !] अध्यात्मतत्त्व को जानने वाले विद्वानों का निरादर मत करो। तिनके के समान तुच्छ तुम्हारी लक्ष्मी उन्हें वैसे ही नहीं बाँध सकती जैसे नूतन मद की धारा से शोभायमान काले गण्डस्थल [कनपटियों] वाले हाथियों को कमल की डण्डियों के सूत्र से नहीं बाँधा जा सकता।

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।

न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१७॥

क्रुद्ध होकर ब्रह्मा हंस को कमल-वन का आनन्द लूटने से तो एकदम रोक सकता है परन्तु उसके नीर-क्षीर विवेक [दूध और पानी को पृथक् करने] के प्रसिद्ध चातुर्य को नष्ट करने में वह भी असमर्थ है।

● केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१८॥

सुन्दर केयूर [बाजूबन्द], चन्द्रमा के समान चमकीले मोतियों के हार, स्नान, चन्दनादि का लेपन, पुष्प-श्रृंगार और सँवारे हुए बाल—ये सब मनुष्य को भूषित नहीं कर सकते। व्याकरण आदि से शुद्ध एवं सुमधुर वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है। अन्य आभूषण तो कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं परन्तु वाणीरूपी आभूषण सदैव जगमगाता रहता है।

● विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥१९॥

विद्या ही मनुष्य की शोभा है, विद्या ही मनुष्य का अत्यन्त गुप्त धन है। विद्या भोग्य-पदार्थ, यश और सुख देने वाली है। विद्या गुरुओं का भी गुरु है अर्थात् उनसे भी अधिक पूज्य है। विदेश-यात्रा में विद्या कुटुम्बी-जनों के समान सहायक होती है। विद्या ही सबसे बड़ा देवता है। राजाओं [राज्यसभाओं] में विद्या का आदर-सम्मान होता है, धन का नहीं अतः विद्या-विहीन मनुष्य पशु के तुल्य है।

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२०॥

मनुष्य के पास यदि क्षमा [सहनशीलता] हो तो उसे कवच की क्या आवश्यकता है ? जो क्रोधी है उसे शत्रुओं से क्या प्रयोजन ? जिसकी जाति-बिरादरी है उसे अग्नि से क्या ? यदि हितैषी, सच्चे मित्र हैं तो अमोघ एवं दिव्य औषधियों से क्या लाभ ? यदि दुर्जनों के साथ सम्पर्क है तो साँपों का क्या काम ? जिसके पास निर्दोष विद्या है उसे धन से क्या मतलब ? जो लज्जाशील है उसे अन्य आभूषणों की क्या आवश्यकता है ? जो सुन्दर कविता कर सकता है उसके लिए राज्य क्या वस्तु है ?

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने[1] शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धृष्टता[2]
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२१॥

अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सरलता एवं उदारता से व्यवहार करना, सेवकों पर दया, दुष्टों के साथ दुष्टता अथवा कठोरता, साधुओं=सज्जन पुरुषों के साथ प्रेम, राजाओं के साथ नीतियुक्त व्यवहार, विद्वानों के साथ निश्छलता, शत्रुओं के साथ शूरता, गुरुओं के प्रति विनम्रता तथा नारियों के प्रति विश्वास—जो पुरुष इन सभी कलाओं में निपुण हैं, ऐसे व्यक्तियों के आधार पर ही संसार टिका हुआ है ।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥२२॥

---

१. किन्हीं पुस्तकों में **'परजने'** पाठ है । यह पाठ होने पर अर्थ होगा—दूसरों पर ।

२. कहीं 'धूर्तता' पाठ भी उपलब्ध होता है । हमारे विचार में 'धृष्टता' पाठ ही समीचीन है । धृष्टता का अर्थ है विश्वास । **'माता निर्माता भवति'** निर्माण-कर्तृ नारी के साथ धूर्तता का व्यवहार करने से देश उन्नत नहीं होगा अपितु रसातल को जायेगा ।

सत्सङ्गति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान को बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को आह्लादित करती है और चहुँ दिशाओं में यश फैलाती है। बताओ, वह कौन-सी भलाई है जो सज्जनों की सङ्गति से प्राप्त नहीं होती। सत्सङ्ग तो सभी कामनाओं का साधक है।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥२३॥

वीर आदि नव[1]रसों पर अधिकार रखने वाले तथा पुण्यवान् महाकवि लोग संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनके यशरूपी शरीर को न वृद्धावस्था के आक्रमण का भय होता है और न मृत्यु का डर होता है।

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपकष्टहारिणि[2] हरौ सम्प्राप्यते देहिनाम् ॥२४॥

संसार के कष्टों को हरने वाले परमात्मा के प्रसन्न होने पर मनुष्य को सदाचारी पुत्र, सती-साध्वी स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, स्नेहयुक्त मित्र, विश्वासपात्र सेवक, सर्वथा क्लेशों से रहित शान्त मन, सुन्दर स्वरूप, स्थायी सम्पत्ति, विद्या से निर्मल मुख—ये सब प्राप्त होते हैं। [अतः मनुष्य को शुभ कर्मों से प्रभु-कृपा-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।]

---

१. वीर आदि नवरस ये हैं—

१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत और ९. शान्त। अब 'वात्सल्य' को भी दसवें रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

२. कहीं-कहीं **'तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ'**—ऐसा पाठ भी है। अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

विशेषः—योगदर्शन में पाँच क्लेश बताये हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥

—योगदर्शन साधन० ३

१. अविद्या=उलटा, मिथ्या ज्ञान, २. अस्मिता=देह और आत्मा को एक समझना, ३. राग, ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश=मृत्युभय—ये पाँच क्लेश हैं।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥२५॥

जीव-हिंसा न करना, दूसरे के धन को चुराने से चित्त को रोकना, सत्य बोलना, समय पड़ने पर यथाशक्ति दान देना, परस्त्रियों की चर्चा में मौन रहना, तृष्णा के वेग को रोकना, गुरुओं के प्रति नम्रता का व्यवहार करना, सब प्राणियों पर दयाभाव रखना—सब शास्त्रों में इसी व्यवहार को सर्वजनसाधारण के कल्याण का मार्ग बताया है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२६॥

नीच=अधम श्रेणी के पुरुष विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के लोग कार्य को आरम्भ करके भी विघ्न आने पर विघ्नों से विचलित होकर बीच में ही छोड़ देते हैं परन्तु उत्तमश्रेणी के वीरपुङ्गव विघ्नों द्वारा बार-बार ताड़ित किये जाने पर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण किये बिना नहीं छोड़ते।

विशेषः—श्रेष्ठ पुरुषों की तो यह घोषणा होती है—

चोट पड़ने पे ये सीने उभर जायेंगे ॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।

विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२७॥

क्षुद्र अथवा दुर्जनों से याचना न करना, थोड़े धनवाले अथवा निर्धन मित्र से भी न माँगना, प्रिय एवं न्याययुक्त आजीविका का ही आश्रय लेना, प्राणों के संकट में पड़ने पर भी पाप-मार्ग में प्रवृत्त न होना, विपत्ति आने पर भी अपने श्रेष्ठ आचरण में ही स्थित रहना और सदा महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना—इस तलवार की धार से भी तीक्ष्ण व्रत का उपदेश सज्जनों को किसने दिया है ? किसी ने नहीं [यह तो उनका स्वभाव ही है ।]

मानशौर्यप्रशंसा

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२८॥

मदमस्त गजराज के फाड़े हुए मस्तक के मांस को ही खाने की इच्छा रखने वाला, अभिमानियों में अग्रगण्य, भूख के कारण क्षीण, बुढ़ापे के कारण दुर्बल एवं दीन, पराक्रम से हीन, शोचनीय दशा को प्राप्त, नष्टतेज और मरणासन्न सिंह क्या कभी सूखी घास खा सकता है ? कभी नहीं ।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं[1]
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥२९॥

---

१. किन्हीं पुस्तकों में '**निर्मांसमप्यस्थि गोः**' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है । हमारे विचार में ऊपर सन्निविष्ट पाठ ही समीचीन है । **निर्मांसमप्यस्थि गोः** का अर्थ होता है मांसरहित बैल की हड्डी । **निर्मांसमप्यस्थिकम्** में 'क' प्रत्यय है । 'क' प्रत्यय कुत्सित और अल्प अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः अर्थ होगा गन्दी और छोटी-सी । इस अर्थ में जो स्वारस्य और गाम्भीर्य है वह 'बैल की हड्डी' इस अर्थ में कहाँ ?

कुत्ता नाममात्र को स्नायु और चर्बी से युक्त, गन्दी और मांस रहित हड्डी के एक छोटे-से टुकड़े को पाकर सन्तुष्ट हो जाता है यद्यपि उससे उसकी भूख नहीं मिटती परन्तु सिंह अपनी गोद में आये हुए गीदड़ को छोड़कर हाथी पर आक्रमण कर उसका वध करता है। ठीक है, कष्ट में रहने पर भी सब प्राणी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही फल चाहते हैं।

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥३०॥

कुत्ता टुकड़ा देने वाले के सामने पूंछ हिलाता है, उसके पैरों पर गिरता है, फिर पृथिवी पर लेटकर मुख और पेट दिखाता है, परन्तु गजराज अपने अन्नदाता की ओर गम्भीरता से देखता है और सैकड़ों खुशामदों के बाद भोजन करता है।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥३१॥

इस परिवर्तनशील संसार में अनेकों व्यक्ति जन्म लेते और मरते हैं। इस संसार में वस्तुतः उसी मनुष्य का जन्म लेना सार्थक है जिसके जन्म लेने से वंश उन्नति को प्राप्त होता है।

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्यते वनेऽथवा ॥[1] ३२॥

---

१. इस श्लोक के पश्चात् निम्न तीन प्रक्षिप्त श्लोक उपलब्ध होते हैं—

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते।
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥ २ ॥

हे भाई! देखो, आकाश में बृहस्पति आदि अन्य भी पाँच-छह प्रतिष्ठित ग्रह हैं परन्तु विशेष पराक्रमियों से लोहा लेने की इच्छा रखने वाला दानव-

पुष्पों के गुच्छे या तो मनुष्य के शिर पर चढ़ते हैं अथवा वन में ही मुरझा जाते हैं इसी प्रकार दृढ़ विचार वाले उच्चात्माओं की भी दो ही गतियाँ होती हैं। मनस्वीजन या सबके हृदयों को जीतकर उन पर शासन करता है अथवा एकाकी रहता हुआ शरीर-त्याग की अभिलाषा करता है।

राज राहू, जिसका आकार सिर भर रह गया है, इनसे वैर नहीं करता। अपितु प्रकाशयुक्त सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों पर ही पर्व के समय [अमावस्या और पूर्णिमा के दिन] आक्रमण करता है।

सूर्य और चन्द्रग्रहण राहू और केतु के ग्रसने से नहीं होता, यह पौराणिक धारणा है जो वेद और विज्ञान के प्रतिकूल है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा--
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३ ॥

शेषनाग ने अपने फनों पर पृथिवी आदि सारे भुवनों को धारण किया हुआ है, उस शेष को भी कच्छपराज सदा अपनी पीठ पर लिये रहता है। उस कच्छप को समुद्र अनायास अपनी गोद में रखे रहता है। अहो ! महापुरुषों के व्यापारों [कारनामों] की महिमा की कोई सीमा नहीं होती।

यह भी पौराणिक गप्प ही है। लोकों को शेष नामक किसी नाग ने धारण नहीं किया है। ये लोक तो परमात्मा प्रदत्त आकर्षण शक्ति के द्वारा एक-दूसरे को धारण कर रहे हैं।

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ ४ ॥

पर्वतराज [हिमालय] के पुत्र [मैनाक] का मद से गर्वित इन्द्र के चलाये हुए ज्वालामय वज्र के प्रहारों से अपने पंखों को कटवा लेना उत्तम था परन्तु अपने पिता के दुःखाभिभूत होने पर मैनाक का समुद्र के जल में कूदकर अपने पंख बचाना उचित नहीं था।

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥ ३३ ॥

जब जड़ सूर्यकान्तमणि सूर्य के किरणरूप पैर की ठोकर खाकर प्रज्वलित हो उठती और अग्नि उगलने लगती है, तब चेतन तेजस्वी पुरुष दूसरों द्वारा किये गये अपमान को कैसे सहन कर सकता है ?

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसां हेतुः ॥ ३४ ॥

सिंह बच्चा होने पर भी मद से काले गण्डस्थल वाले गजराजों के ऊपर ही आक्रमण करता है । ठीक है, शत्रुओं पर आक्रमण करना शक्तिशालियों का स्वभाव ही होता है, अवस्था तेज का कारण नहीं होती ।

द्रव्यप्रशंसा

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छतां
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥३५॥

जाति चाहे रसातल को चली जाए, गुणों का समूह कोई उससे भी नीचा स्थान हो तो वहाँ चला जाए । शील पर्वत के शिखर से गिरकर नष्ट हो जाए, परिवार चाहे अग्नि से दग्ध हो जाए, शौर्य [शूरवीरता] पर चाहे वज्र गिर पड़े । [इस प्रकार चाहे सम्पूर्ण कुल नष्ट हो जाए] हमें तो केवल धन चाहिए क्योंकि एक धन के बिना संसार के समस्त गुण तिनके के समान तुच्छ हो जाते हैं ।

यह भी पौराणिक गप्प ही है । क्या पर्वतों के पक्षियों की भाँति पंख होते थे ? ये पंख अब कहाँ चले गये ? क्या मनुष्यों की भाँति पर्वतों की भी सन्तानें होती हैं ।

उपर्युक्त तीनों श्लोक तर्क-तुला पर खरे नहीं उतरते । ये इतिहास और विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध हैं अतः प्रक्षिप्त हैं ।

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव कर्म[1]
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ।। ३६ ।।

मनुष्य के पास ठीक पहले जैसी ही इन्द्रियाँ रहती हैं, वही व्यवहार रहता है; वैसी ही अकुण्ठित [कुशाग्र] बुद्धि रहती है और वैसे ही ललित वचन रहते हैं परन्तु आश्चर्य की बात है कि धन की गर्मी शान्त होने पर वह कुछ का कुछ हो जाता है।

• यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।। ३७ ।।

जिस मनुष्य के पास धन है वही कुलीन है, वही विद्वान् है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणों का जानकार है, वही वक्ता=बोलने वाला है और वही दर्शनीय है। तात्पर्य यह है कि सारे गुण सुवर्ण [धन] में ही निवास करते हैं।

• दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ।। ३८ ।।

खोटी सम्मति मानने से राजा, अधिक मेल-जोल से योगी, लाड़-प्यार करने से पुत्र, अध्ययन न करने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टों के संग से शील, मद्यपान से लज्जा, देख-भाल न करने से खेती, विदेश में अधिक रहने से प्रेम, स्नेह न होने से मित्रता, अनीति से ऐश्वर्य और अंधा-धुन्ध दान देने या व्यय करने से धन नष्ट हो जाता है।

• दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।। ३९ ।।

---

१. किन्हीं पुस्तकों में 'नाम' पाठ है। नाम पाठ होने पर अर्थ होगा—वही नाम है।

दान देना, उपभोग करना और नष्ट हो जाना—धन की ये तीन ही गतियाँ हैं। जो न दान देता है और न भोग करता है उसके धन की तीसरी गति अर्थात् नाश हो जाता है।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीबो[1] नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥ ४०॥

सान [खराद] पर घिसा हुआ हीरा, शस्त्रों द्वारा घायल किया गया संग्राम-विजेता, मदमस्त हाथी, शरद्-ऋतु में कुछ-कुछ सूखे हुए किनारों वाली नदी, रतिक्रीड़ा में दली-मली गई नवयौवना नारी और अतिदान के कारण कङ्गाल हुआ पुरुष—इन सभी की शोभा कृशता अथवा दुर्बलता में होती है।

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च॥ ४१॥

दरिद्र व्यक्ति एक मुट्ठी भर जौ की इच्छा करता है, परन्तु सम्पन्न होने पर वही व्यक्ति सारे संसार को तृण के समान तुच्छ समझने लगता है। लघुता और गुरुता निश्चित नहीं हैं। ये दोनों अवस्थाएँ ही मनुष्य को छोटा-बड़ा बनाती हैं और वस्तुओं को संकुचित तथा विस्तृत करती हैं।

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः॥ ४२

---

१. प्रायः पुस्तकों में **'मदक्षीणो'** पाठ है, परन्तु मदक्षीबो में जो सौन्दर्य और स्वारस्य है वह **'मदक्षीणः'** में कहाँ। मदक्षीण हाथी तो पहले ही कृश हो चुका है। अतः 'मदक्षीबो' पाठ ही उचित है।

हे राजन् ! यदि इस पृथिवी रूपी गौ को दुहने की इच्छा है तो बछड़ेरूपी प्रजा का भली-भाँति पालन-पोषण करो। प्रजावर्ग का निरन्तर अच्छी प्रकार पालन करने पर ही पृथिवी कल्पलता की भाँति अनेक प्रकार के फल प्रदान करती है।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४३ ॥

कभी सच्ची, कभी झूठी, कभी कठोर वचन बोलने वाली, कहीं मधुर वचन बोलने वाली, कहीं मारने वाली और कहीं दया करने वाली, कहीं लोभ से भरी हुई तो कभी दान में दक्ष, कभी बहुत-सा संग्रह करने वाली और कहीं प्रचुर धन व्यय करने वाली—इस प्रकार वेश्या की भाँति राजनीति भी अनेक रूप धारण करने वाली होती है।

आज्ञा[1] कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! जिन राजाओं में आज्ञा=शासन करना, यश का विस्तार, ब्राह्मणों का पालन, दान देना, ऐश्वर्य का उपभोग करना, और मित्रों की रक्षा करना—ये छह गुण नहीं मिलते उनका आश्रय लेने से क्या लाभ ?

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥ ४५ ॥

धाता=परमात्मा ने भाग्य में थोड़ा अथवा अधिक जितना धन लिख दिया है वह उसे अवश्य मिलेगा, मरुभूमि में भी उसमें कमी

[1] किन्हीं पुस्तकों में 'विद्या' पाठ है। 'विद्या' पाठ होने पर अर्थ होगा—विद्या की प्राप्ति।

नहीं आयेगी और स्वर्ण-पर्वत सुमेरु पर पहुँचने पर भी उसमें वृद्धि नहीं होगी अतः धैर्य धारण करो, धनिकों के पास जाकर मत गिड़-गिड़ाओ। देखो! घड़ा कुएँ और समुद्र में से बराबर ही पानी ले सकता है।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तीः प्रतीक्ष्यसे ॥ ४६ ॥

हे मेघश्रेष्ठ! यह कौन नहीं जानता कि चातकों के एकमात्र प्राणाधार तुम्हीं हो फिर हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो? भाव यह है कि आश्रित की इच्छापूर्ति बिना याचना के ही करनी चाहिए।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽहि नैतादृशाः।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥ ४७ ॥

हे मित्र पपीहे! सावधान चित्त होकर क्षण भर मेरी बात सुनो। आकाश में बादल तो बहुत-से होते हैं परन्तु सारे ऐसे दयालु नहीं हैं जो बरसकर तुम्हें तृप्त कर सकें। इनमें से कुछ तो घनघोर वृष्टि से सारी पृथिवी को सींच देते हैं और कुछ व्यर्थ ही गर्जते रहते हैं। इसलिए जिस किसीको देखकर प्रत्येक के समक्ष दीनता के वचन मत बोलो!

दुर्जननिन्दा

अकरुणत्वमकारणविग्रहः
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥ ४८ ॥

निर्दयता, बिना कारण के लड़ाई-झगड़ा करना, दूसरे के धन तथा स्त्री को पाने की इच्छा करना, सज्जनों और कुटुम्बी जनों के

साथ असहनशीलता का व्यवहार करना—ये लक्षण दुर्जनों में स्वभाव से ही पाये जाते हैं।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ४६ ॥

विद्या के भूषण से भूषित होने पर भी दुष्ट मनुष्य त्याज्य ही हैं क्योंकि मणि से अलंकृत होने पर भी क्या सर्प भयंकर नहीं होता ?

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ५० ॥

दुष्टलोग लज्जाशील को बुद्धू, व्रत में रुचि रखने वाले को दम्भी, पवित्र पुरुष को कपटी, शूरवीर को दयाहीन, मुनि को विपरीत-बुद्धि, मधुर-भाषी को दीन, तेजस्वी को घमण्डी, सुवक्ता को बड़बड़ाने वाला और धीर-गम्भीर, शान्त पुरुष को असमर्थ कहते हैं। गुणियों का ऐसा कौनसा गुण है जिसे दुष्टों ने कलंकित न किया हो।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ ५१ ॥

यदि लोभ है तो और किसी दुर्गुण की क्या आवश्यकता है? यदि चुगलखोरी का स्वभाव है तो और पातकों का क्या काम ? यदि जीवन में सत्य है तो तपस्या का क्या प्रयोजन ? यदि मन पवित्र है तो तीर्थों में घूमने से क्या लाभ ? यदि सौजन्य है तो गुणों की क्या आवश्यकता है ? जिनका यश फैल रहा है उन्हें अन्य आभूषणों से क्या प्रयोजन ? यदि उत्तम विद्या है तो फिर धन की क्या आवश्यकता है ? यदि अपयश है तो मृत्यु से क्या अर्थात् जीतेजी ही मरे हुए हैं।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ५२ ॥

दिन के समय कान्तिहीन चन्द्रमा, यौवनहीन स्त्री, कमल रहित सरोवर, सुन्दर पुरुष का विचारहित मुख, धन-लोलुप राजा, सदा दुर्दशा में पड़ा हुआ सत्पुरुष तथा राजसभा में सम्मानित दुर्जन— ये सात मेरे मन में काँटे की भाँति चुभते रहते हैं।

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥ ५३ ॥

अत्यन्त क्रोधी राजाओं का कोई अपना नहीं होता। जैसे छू जाने पर अग्नि हवन करने वाले को भी जला देती है ऐसे ही क्रुद्ध होने पर राजा लोग अपने मित्रों को भी नहीं छोड़ते।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ५४ ॥

सेवक मौन रहने पर गूँगा, बातचीत करने में निपुण हो तो बावला अथवा बकवासी, पास रहने पर ढीठ, दूर रहने पर बुद्धिहीन, क्षमा करने से डरपोक और असहिष्णु होने पर अकुलीन कहलाता है अतः सेवा-धर्म बहुत कठिन है, योगियों के लिए भी इसका निभाना और समझना कठिन है।

उद्भासिताखिल खलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमाप्यते कैः ॥ ५५ ॥

सब दुष्टों को उभारने वाले, उच्छृंखल—स्वेच्छाचारी, पूर्व-जन्म में किये हुए नीच कर्मों को क्रमशः विस्तृत रूप में करने की प्रवृत्ति

वाले भाग्य से जिसे धन भी प्राप्त हो गया है और सद्गुणों से अत्यन्त द्वेष रखने वाले नीच पुरुष के पास रहकर कौन सुख पा सकता है ?

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ५६ ॥

जैसे दिन के पहले भाग की छाया पहले लम्बी और फिर क्रमशः घटती चली जाती है वैसे ही दुष्ट की मित्रता भी पहले अत्यन्त घनिष्ट प्रतीत होती है परन्तु धीरे-धीरे कम होती जाती है इसके विपरीत सज्जन की मित्रता आरम्भ में स्वल्प-सी होती है परन्तु बाद में मध्याह्नोत्तर की छाया के समान उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है ।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ॥ ५७ ॥

हरिण, मछली और सज्जन—ये तीनों बिना किसी को सताये घास, जल और सन्तोष से अपना निर्वाह करते हैं परन्तु बहेलिया=शिकारी, धीवर और दुर्जन बिना कारण ही इसके शत्रु बने हुए हैं ।

सुजनप्रशंसा

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥ ५८ ॥

सज्जन पुरुषों के सङ्ग की इच्छा, दूसरों के गुणों में अनुराग, गुरु अथवा बड़े लोगों के प्रति विनम्रता, विद्या का व्यसन, अपनी ही स्त्री में प्रेम, लोकनिन्दा का भय, परमात्मा की भक्ति, मन को वश में रखने की शक्ति तथा दुष्टों के संसर्ग का त्याग—ये निर्मल गुण जिन मनुष्यों में रहते हैं उन्हें हमारा प्रणाम है ।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ५६ ॥

विपत्ति में धैर्य, अपनी वृद्धि में क्षमाशीलता, सभा में वचन-चातुर्य, युद्ध में पराक्रम, यश-प्राप्ति की अभिलाषा तथा वेदाध्ययन में आसक्ति—ये छह बातें महात्मा पुरुषों में स्वभाव से ही होती है।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्यानिरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषमममसिधाराव्रतमिदम् ॥ ६०॥

प्रकट न करके, चुपचाप दान देना, घर पर आये हुए अतिथि के साथ आदर का व्यवहार करना, उपकार करके मौन रहना, अपने ऊपर दूसरे द्वारा किये हुए उपकार का सभा में वर्णन करना—इस प्रकार के कठोर असिधार [तलवार की धार पर चलने के व्रत]का उपदेश सज्जनों को किसने दिया है ? [किसी ने नहीं, उनमें ये गुण स्वाभाविक हैं]।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम्।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६१॥

सुपात्र को दान देने से हाथ की शोभा है, गुरु के चरणों में झुकने वाला शिर प्रशंसनीय है, सत्य-भाषण मुख की शोभा है, भुज-दण्डों की शोभा विजयकारक अतुलित बल से है, हृदय की शोभा स्वच्छ भावों तथा कानों की शोभा शास्त्र-श्रवण से है। ऐश्वर्य के बिना भी महापुरुषों के ये दिव्य आभूषण हैं।

सम्पत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम् ॥६२॥

महात्माओं का चित्त सम्पत्ति में कमल की भाँति कोमल होता है परन्तु वही विपत्ति के समय बड़े पर्वत की चट्टानों के समूह की भाँति कठिन हो जाता है।

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः ॥६३॥

गर्म लोहे पर पड़ी हुई पानी की बूँद का नाम-निशान भी नहीं रहता, वही बूँद कमल के पत्ते पर गिरकर मोती के समान चमकने लगती है फिर वही बूँद स्वाति नक्षत्र में समुद्र की सीप में पड़कर मोती बन जाती है अतः यह सिद्ध हुआ कि अधम, मध्यम और उत्तम गुण मनुष्य में सत्संग से ही उत्पन्न होते हैं।

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य—
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥६४॥

जो अपने आचरणों [श्रेष्ठ कर्मों और व्यवहारों] से अपने पिता को प्रसन्न करता है वही सच्चा पुत्र है, जो सदा अपने पति का कल्याण चाहती है वही स्त्री है, जो सुख और दुःख दोनों में बराबर सहायक रहे वही सच्चा मित्र है—संसार में ये तीन भाग्यशालियों को ही प्राप्त होते हैं।

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥६५॥

मनुष्य को एक ही देव में भक्ति रखनी चाहिए, चाहे वह विष्णु हो अथवा शिव, एक ही मित्र बनाना चाहिए चाहे वह राजा हो अथवा योगी, एक ही स्थान पर रहना चाहिए वह नगर हो या वन और एक ही पत्नी होनी चाहिए, चाहे वह सुन्दरी स्त्री हो अथवा पर्वत की कन्दरा [गुफा]।

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे।

क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दुःखयन्तः
सन्तःसाश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥६६॥

नम्रता से उन्नति करने वाले, दूसरों के गुणों के वर्णन द्वारा अपने गुणों को प्रकट करने वाले, परोपकार करते हुए अपने कार्यों को सिद्ध करने वाले, कठोर वाक्यों का प्रयोग करने वाले, निन्दक और कुटिल लोगों को क्षमा गुण से ही दूषित करने [अपराधी ठहराने] वाले—ऐसे आश्चर्ययुक्त शुभ आचरण करने वाले माननीय महात्मा संसार में किसके पूज्य नहीं होते ? सभी के पूज्य होते हैं।

परोपकार पद्धतिः

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥६७॥

फल आने पर वृक्ष झुक जाते हैं, नवीन जल से पूरित मेघ=बादल भी झुक-झुककर पृथिवी पर विहार करने लगते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी ऐश्वर्य सम्पन्न होने पर विनम्र हो जाते हैं। सदा विनम्र रहना परोपकारियों का स्वभाव ही है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणामयानां
परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥६८॥

कानों की शोभा शास्त्र-श्रवण से होती है कुण्डलों से नहीं, हाथ दान से शोभित होते हैं, स्वर्ण-कंकण पहनने से नहीं, इसी प्रकार दयालु पुरुषों का शरीर परोपकार से सुशोभित होता है, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों के लेप से नहीं।

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति।

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥६९॥

महात्मा लोग श्रेष्ठ मित्र के ये लक्षण बतलाते हैं—श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र को पाप करने से रोकता है, कल्याणकारी कार्यों को करने की प्रेरणा करता है, गुप्त रखने योग्य बातों को गुप्त रखता है और गुणों को प्रकट करता है, विपत्ति पड़ने पर कभी साथ नहीं छोड़ता तथा समय पड़ने पर धन से भी सहायता करता है।

पद्माकरं दिनकरो विकची करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥७०॥

बिना याचना किये ही सूर्य कमल-समूह को विकसित करता है, चन्द्रमा भी बिना किसी प्रेरणा के स्वयं ही कुमुदों को प्रफुल्लित करता है, बादल भी बिना प्रार्थना किये ही जल बरसाता है, इसी प्रकार सज्जन लोग भी अपने आप ही परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं।

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥७१॥

संसार में वे लोग सत्पुरुष हैं जो अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि देकर दूसरों की भलाई करते हैं। वे सामान्य जन हैं जो अपने काम को न बिगाड़ते हुए दूसरों की भलाई करते हैं। वे राक्षस हैं जो अपना कार्य सिद्ध करने के लिए दूसरों के बने-बनाये काम को बिगाड़ देते हैं। परन्तु जो लोग बिना किसी स्वार्थ के व्यर्थ ही दूसरों के हित की हानि करते हैं, उन्हें किस नाम से पुकारा जाए, यह हम नहीं जानते।

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥[1]७२॥

दूध ने अपने में मिले हुए अपने जलरूपी मित्र को अपने सभी गुण देकर उसे अपने जैसा बना लिया। इस उपकार के बदले में [जब दूध अग्नि के ऊपर गर्म करने के लिए रखा गया उस समय] दूध को जलता देखकर पानी ने अपने आपको अग्नि को समर्पित कर दिया, अपने को जला दिया। अपने मित्र का नाश देखकर दूध अग्नि में जाने के लिए व्याकुल हो उठा परन्तु जल के छींटों के रूप में अपने मित्र को पुनः प्राप्त हुआ समझकर वह शान्त हो गया। ठीक है सज्जनों की मित्रता ऐसी ही होती है।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥७३॥

तृष्णा का त्याग करो, क्षमा को धारण करो, मद का परित्याग

---

१. इस श्लोक के पश्चात् निम्न प्रक्षिप्त श्लोक पुस्तकों में दृष्टिगोचर होता है।

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥५॥

अहो! समुद्र का शरीर कैसा विस्तृत, बलिष्ठ और भार सहने वाला है। इसमें एक ओर तो विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं, दूसरी ओर उनके शत्रुओं [दानवों] का समूह निवास कर रहा है। इधर शरणागत पर्वत पड़े हुए हैं तो उधर प्रलयङ्कर अग्नियों को धारण किये हुए बड़वानल धधक रहा है। इतने पर भी समुद्र अचल और अडिग है।

सृष्टि-क्रम और विज्ञान विरुद्ध होने के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है। नीति के प्रसङ्ग में इसकी कोई उपयोगिता भी प्रतीत नहीं होती।

करो, पाप में प्रीति मत करो, सत्य बोलो, सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, पूजनीय व्यक्तियों का आदर करो, शत्रुओं से भी नम्रता का व्यवहार करो, अपने गुणों का विस्तार करो, अपने यश की रक्षा करो, दुखियों पर दया दिखलाओ —ये सत्पुरुषों के लक्षण हैं।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७४॥

मन, वचन और शरीर में सत्कर्मरूपी अमृत से पूर्ण होकर तीनों लोकों को अपने उपकारों से तृप्त करने वाले तथा दूसरों के परमाणु सदृश छोटे-से गुणों को पर्वत के समान मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले महात्मा संसार में कितने हैं ? बिरले ही हैं।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥७५॥

उस स्वर्ण-पर्वत सुमेरु अथवा चाँदी के पर्वत कैलास का क्या लाभ, जिन पर खड़े हुए वृक्ष वैसे-के-वैसे ही रह गये। हमारी दृष्टि में तो मलय पर्वत की ही महिमा है जिसका आश्रय लेने से कङ्कोल=शीतलचीनी, नीम तथा कुटज=पत्थर-फूल के वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

धैर्यप्रशंसा

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न देवा
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥७६॥

देव लोगों ने बहुमूल्य रत्नों को प्राप्त कर सन्तोष नहीं किया

और भयंकर विष प्राप्त करके भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने तब तक विश्राम नहीं लिया जब तक उन्हें अमृत की प्राप्ति नहीं हुई। ठीक ही है, धीर लोग अभीष्ट वस्तु को प्राप्त किये बिना विश्राम नहीं करते।

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥७७॥

कार्यसिद्धि पर दृष्टि रखने वाले विचारशील एवं विवेकी लोग दुःख-सुख की परवाह नहीं करते। वे अवसर अनुसार कभी भूमि पर पड़ रहते हैं तो कभी सुन्दर शय्याओं पर शयन करते हैं, कभी शाक-पात खाकर निर्वाह कर लेते हैं तो कभी धान के भात का आनन्द लूटते हैं, कभी गुदड़ी से शरीर को ढक लेते हैं तो कभी सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥७८॥

धन-सम्पत्ति की शोभा सज्जनता, शूरवीरता की शोभा वाक् संयम [बढ़-चढ़कर बातें न करना], ज्ञान की शोभा शान्ति, विद्या की शोभा नम्रता, धन की शोभा सुपात्र में दान, तप की शोभा क्रोध न करना, प्रभुता की शोभा क्षमा और धर्म का भूषण निश्छल व्यवहार है। परन्तु इन सब का कारणरूप शील=सदाचार सर्वश्रेष्ठ आभूषण है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥७९॥

नीति में निपुण लोग चाहे निन्दा करें अथवा प्रशंसा, इच्छानुसार धन-ऐश्वर्य अपने पास आये अथवा अपने पास से चला जाए, आज ही मृत्यु हो जाए चाहे दीर्घकाल तक जीवित रहें किन्तु धीर पुरुष न्याय सङ्गत मार्ग से एक पग भी इधर-उधर नहीं हटते ।

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम्[१] ॥८०॥

पिटारे में बन्द होने के कारण दुःखी, भूख से व्याकुल और जीवन से निराश साँप के पिटारे में रात को चूहा छेद करके घुस गया। भूखा साँप उसके मांस से तृप्त होकर उसी मार्ग से बाहर निकल गया। हे मनुष्यो ! देखो ! भाग्य ही मनुष्यों की उन्नति और अवनति का कारण है।

* आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८१॥

आलस्य मनुष्य के शरीर में ही रहने वाला उसका महान् शत्रु है। उद्यम=पुरुषार्थ के समान मनुष्य का कोई दूसरा मित्र नहीं है, उद्योगी मनुष्य कभी दुःखी नहीं होता।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तःसन्तःसन्तप्यन्ते न दुःखेषु[२] ॥८२॥

---

१. एक प्रति में निम्न श्लोक अधिक है—

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥ ६ ॥

हाथों के आघात से तड़ित होकर पृथिवी पर गिरा हुआ गेंद ऊपर को उठता ही है, इसी प्रकार साधु जनों की विपत्तियाँ भी सदा समान नहीं रहतीं वे भी आपत्तियों से झूझकर ऊपर उठते हैं।

२. इस श्लोक के पश्चात् निम्न प्रक्षिप्त श्लोक उपलब्ध होता है—

कट जाने पर भी वृक्ष समय पाकर फिर बढ़ता है, क्षीण होने पर भी चन्द्रमा पुनः बढ़ता है, इस प्रकार विचार करने वाले सज्जन विपत्ति में दुखी नहीं होते।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥८३॥

यद्यपि मनुष्य को अपने पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुसार फल मिलता है, सुख-दुःख की प्राप्ति होती है और बुद्धि भी कर्मानुसार ही प्राप्त होती है फिर भी बुद्धिमान् मनुष्य को विचारपूर्वक ही कर्म करना चाहिए।

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापिते मस्तके
गच्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥७॥

स्वयं देवगुरु बृहस्पति जिसके पथ-प्रदर्शक अथवा मन्त्री हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, देवगण जिसके सैनिक हैं, स्वर्गलोक जिसका दुर्ग=किला है, विष्णु का जिस पर अनुग्रह है, सवारी के लिए ऐरावत हाथी है। जिसका इतना विस्मयकारक ऐश्वर्य और बल था वह इन्द्र भी युद्ध में शत्रुओं से परास्त हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य का सहारा ही उत्तम है, पुरुषार्थ व्यर्थ है और उसे बार-बार धिक्कार है।

यह श्लोक प्रक्षिप्त है क्योंकि ये विचार युक्तिसंगत नहीं है। पुरुषार्थ के फल का नाम ही भाग्य है। पुरुषार्थ ही उत्तम है। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने कितना सुन्दर लिखा है –

"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधारने से सब सुधरते और जिसके बिगाड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसीसे प्रारब्ध की उपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥[1]८४॥

सिर पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर कोई गंजा छाया का स्थान खोजता हुआ भाग्यवश ताड़ के वृक्ष के नीचे जा पहुँचा। वहाँ भी एक बहुत बड़ा फल धड़ाम से उसके सिर पर गिर पड़ा और उसका सिर फूट गया। ठीक है, प्रायः भाग्यहीन मनुष्य जहाँ भी जाता है वहीं विपत्तियाँ भी आ जाती हैं।

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चे—
दहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥८५॥

अहो! बड़े दुःख की बात है। जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा की कैसी मूर्खता है कि वह मनुष्य को सर्वगुणसम्पन्न और संसार का भूषण रूप बनाता है किन्तु उसका जीवन क्षणभङ्गुर होता है।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥८६॥

---

[1] इस श्लोक के पश्चात् निम्न प्रक्षिप्त श्लोक है—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ ८ ॥

चन्द्रमा और सूर्य को राहु से ग्रसा हुआ देखकर, गजराज और नागराज को बन्धन में पड़ा देखकर और बुद्धिमानों की दरिद्रता को देखकर मेरा यही विचार होता है कि भाग्य ही बलवान् है।

चन्द्रमा और सूर्य का राहु से ग्रसे जाने की कल्पना 'सूर्यसिद्धान्त' आदि वैदिक ग्रन्थों के प्रतिकूल होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यदि करीर के वृक्ष पर पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसन्तऋतु का क्या दोष ? यदि उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता तो इसमें सूर्य का क्या अपराध ? यदि चातक के मुख में वर्षा की बूंदें नहीं पड़ती तो इसमें बादल का क्या दोष ? भगवान् ने जिसके भाग्य में जो कुछ लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है ?

कर्मप्रशंसा

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति[१] ॥८७ ॥

हम बड़ा समझकर देवों को नमस्कार करते हैं परन्तु वे देव भी

---

[१] इस श्लोक के पश्चात् निम्न प्रक्षिप्त श्लोक है—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥६॥

जिसने विश्वरूपी पात्र के भीतर ब्रह्मा को कुम्हार की भाँति जगत् रचने के लिए नियुक्त कर दिया, जिस कर्म-व्यवस्था ने विष्णु को अत्यन्त दुःख-दायक (मत्स्य, कच्छप आदि) दश अवतार धारण रूपी महाकष्ट में धकेल दिया, जिसके कारण शंकरजी हाथ में खप्पर लेकर भीख माँगते फिरते हैं और सूर्य प्रतिदिन आकाश में घूमा करता है, उस कर्म के लिए हमारा नमस्कार है।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र एक ही परमात्मा के नाम हैं । सृष्टि-उत्पत्ति करने के कारण वह ब्रह्मा है, सृष्टि का पालन करने के कारण वह विष्णु है और सृष्टि का संहार करने के कारण वह रुद्र है । अवतारवाद की कल्पना अवैदिक है । ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता । अवतार का अर्थ है उतरना । जो कभी चढ़ा ही नहीं उसका अवतरण कैसा ? जो सर्वव्यापक है वह सिमटकर छोटे-से गर्भाशय में कैसे आ सकता है ?

तो दुष्ट विधाता के वश में हैं। अच्छा तो हम उस विधाता की वन्दना करते हैं किन्तु वह भी तो कर्मानुसार ही फल देने वाला है। जब फल कर्मानुसार ही मिलना है तब देवों और विधाता से क्या प्रयोजन? फिर तो कर्मों को ही नमस्कार है जिन पर विधि का भी वश नहीं चलता।

विशेषः—जो लोग पापों के फल को शमन करने की दृष्टि से भगवान् का नाम लेते हैं या उसकी उपासना करते हैं वे भूल में हैं। कर्मों का फल तो कर्मानुसार भोगना ही होगा। उपासना से कर्मों का क्षय नहीं होता उसका फल तो कुछ और ही है।

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्याऽपि नैव न च यत्नकृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥८८॥

मनुष्य को न तो सुन्दर आकृति फल देती है, न उत्तम कुल, न शील, न विद्या और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही कोई फल प्रदान करती है। केवल पूर्वजन्मकृत तप के द्वारा सञ्चित भाग्य ही समय पर वृक्ष की भाँति फल देता है।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥८९॥

वन में, युद्ध में, शत्रुओं से घिरने पर, जल में, अग्नि में, महासमुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सुप्त अवस्था में, असावधानी की दशा में तथा संकट पड़ने पर मनुष्य के पूर्वजन्मकृत कर्म ही उसकी रक्षा करते हैं।

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥२०॥

हे सज्जन ! यदि मनोवाञ्छित फल भोगने की इच्छा है तो सब के द्वारा सम्मानित उस सत्कर्म का अनुष्ठान करो जो दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान् शत्रुओं को मित्र, गुप्त वस्तुओं को प्रकट [परोक्ष वस्तुओं को प्रत्यक्ष] और विष को तत्काल अमृत बना देता है। बहुत-से गुणों के उपार्जन का व्यर्थ उद्योग न करके तुम केवल सुकर्म ही करो।

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥६१॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि अच्छा या बुरा कोई भी कार्य करने से पूर्व उसके परिणाम पर विचार करे क्योंकि बिना विचारे शीघ्रता से किये हुए बुरे कार्यों का निकृष्ट फल जोवनभर हृदय को जलाता और काँटे की भाँति चुभता रहता है।

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं चन्दनैरिन्धनाद्यैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ।
छित्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥६२॥

जो मन्दभाग्य पुरुष इस कर्मभूमि [मानव शरीर अथवा सत्कर्म करने योग्य मर्त्यलोक] को पाकर तप आदि पुण्यकर्म नहीं करता वह उस महामूढ़ के समान है जो चन्दन के ईंधन से वैदूर्यमणि के पतीले में लहसुन को पकाता है। अथवा आक को जड़ों को पाने के लिए सोने के फल के अग्रभाग से [सोने के बने हुए हल से] पृथिवो को जोतता है अथवा कपूर के टुकड़े करके कोदों के खेत की बाढ़ लगाता है।

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकलाविद्याःकलाःशिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥६३॥

चाहे मनुष्य मोतियों के लिए समुद्र में गोता लगाये, चाहे स्वर्ण-प्राप्ति के लिए सुमेरु पर्वत पर जा चढ़े, चाहे समर में शत्रुओं को जीते, चाहे व्यापार, कृषि, सेवा आदि सारी विद्याओं और कलाओं को सीख ले, चाहे महान् प्रयत्न करके पक्षी की भाँति आकाश में उड़ता फिरे फिर भी संसार में कर्म के प्रताप से अनहोनी नहीं होती और जो होनहार है वह कभी टल नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि कर्म करने के पश्चात् फल में परिवर्तन असम्भव है।

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥६४॥

जिस मनुष्य के पूर्वजन्मकृत शुभकर्मों का पुण्यफल प्रबल है उसके लिए भयंकर वन भी श्रेष्ठ नगर बन जाता है, सब लोग उसके मित्र बन जाते हैं और सारी पृथिवी उसके लिए उत्तम निधियों और रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है।

प्रत्यन्तरश्लोकाः

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः
का हानिःसमयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।
कःशूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥६५॥

लाभ क्या है ? श्रेष्ठ पुरुषों का सङ्ग [सत्सङ्गति, सन्त समागम]। दुःख क्या है ? मूर्खों का सङ्ग [कुसंगति]। हानि क्या है ? समय की बरबादी अथवा समय पर चूक जाना। चतुराई क्या है ? धर्म

के रहस्यों में अनुराग। वीर कौन है? जो इन्द्रियों का विजेता है। उत्तम स्त्री कौन-सी है? जो पति की आज्ञा के अनुकूल चलने वाली है। धन क्या है? विद्या। सुख क्या है? परदेश में न रहना। राज्य क्या है? आज्ञा की सफलता।

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥९६॥

अप्रिय एवं कठोर वचनों के दरिद्र, प्रिय एवं मधुर वचनों के धनी, अपनी पत्नी से ही सदा सन्तुष्ट रहने वाले और दूसरों की निन्दा से विमुख सज्जनों द्वारा पृथिवी किसी-किसी स्थान पर ही अलंकृत है सर्वत्र नहीं, अर्थात् ऐसे महापुरुष संसार में बिरले ही होते हैं।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणाः प्रमाष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥९७॥

धीर पुरुष चाहे कैसी ही आपत्ति और विपत्तियों में फँस जाए वह अपने धैर्य को नहीं छोड़ता जैसे जलती हुई अग्नि की ज्वालाओं को नीचे को ओर लटका देने पर भी वे सदा ऊपर को ओर ही जाती हैं।

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै—
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥९८॥

जिस पुरुष को सुन्दरी स्त्री के कटाक्ष रूपी अग्निमय बाण घायल नहीं करते और जिसके हृदय को क्रोधरूपी अग्नि नहीं जलाती, इन्द्रियों के आकर्षक विषय जिसको नहीं खींचते—ऐसा धीर पुरुष अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा ॥९९॥

जैसे सूर्य अपने प्रखर प्रकाश से सारी पृथिवी को व्याप्त कर देता

है उसी प्रकार शूरवीर अकेला हो अपने प्रबल पराक्रम से सारे संसार को पादाक्रान्त कर लेता है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥१००॥

सारे मनुष्यों का अभीष्टतम [प्रियतम] शील=सदाचार जिस पुरुष के जीवन में विद्यमान है उसके लिए अग्नि जल के समान शीतल हो जाती है, समुद्र एक छोटी-सी नदी के रूप में परिणत हो जाता है, सुमेरु पर्वत तत्काल एक छोटे-से पत्थर के टुकड़े के समान बन जाता है, सिंह उसके समक्ष पालतु हरण जैसा बन जाता है, भयंकर साँप पुष्पहार के सदृश बन जाता है और विष अमृत हो जाता है।

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१०१॥

सत्यपालन में लगे हुए तेजस्वी पुरुष प्राणों को भी सुखपूर्वक त्याग देते हैं परन्तु लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करने वाली, अपनी माता के समान निर्मल हृदय और भाववाली तथा सदा स्वाधीन रहने वाली प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ते।

इति नीतिशतकम्

शृङ्गारशतकम्

मङ्गलाचरणम्

शंभुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ।।१।।

जिसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को मृग के समान नयनों वाली कामिनियों के गृहकार्य करने के लिए सतत दास बना रखा है, जिसका वर्णन करने में वाणी असमर्थ है ऐसे चरित्रों से विचित्र प्रतीत होने वाले उस भगवान् पुष्पायुध [कामदेव] को नमस्कार है।

स्त्री प्रशंसा

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया
पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ।।२।।

मन्द-मुस्कराहट से, अन्तःकरण के विकार रूप भाव से, लज्जा से, आकस्मिक भय से, तिरछी दृष्टि द्वारा देखने से, बातचीत से, ईर्ष्या के कारण कलह से, लीलाविलास से—इस प्रकार सम्पूर्ण भावों से स्त्रियां पुरुषों के संसार-बन्धन का कारण हैं।

भ्रूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः ।

लीलामन्दं प्रस्थितं च स्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥३॥

भौंहों के उतार-चढ़ाव आदि की चतुराई, अर्द्ध-उन्मीलित नेत्रों द्वारा कटाक्ष, अत्यधिक स्निग्ध एवं मधुर वाणी, लज्जापूर्ण सुकोमल हास, विलास द्वारा मन्द-मन्द गमन और स्थित होना—ये सब भाव स्त्रियों के आभूषण भी हैं और आयुध [हथियार] भी। इनके द्वारा वे सबको वश में कर लेती हैं।

क्वचित्सुभ्रूभङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिणतैः
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः।
नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितैः
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दिशः ॥४॥

कभी भौंहों के मनोहर कटाक्ष, कभी लज्जामय चञ्चल विलास, कभी भय से भयभीत हो जाना, कभी लीलापूर्ण कोमल हास से युक्त नीले कमल के समान सुन्दरी तरुणियों के नेत्र सर्वत्र अपना प्रभाव फैलाते हैं।

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः।
वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥५॥

चन्द्रमा की कान्ति को फीका करने वाला मुख, कमलों को लजाने वाले दो नयन, स्वर्ण को निन्दित करने वाला शरीर का रुचिर वर्ण [अङ्ग कान्ति] भौरों को जीतने वाले अर्थात् उनसे अधिक काले केश, गजराज के गण्डस्थल की शोभा को हरने वाले अर्थात् पुष्ट तथा उन्नत उभय कुच, उच्च नितम्ब, मधुर और कोमल वाणी-विलास—ये सब युवतियों के स्वाभाविक आभूषण हैं।

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।

गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः ।
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिहि न हि रम्यं मृगदृशः ॥६॥

यौवनावस्था में पदार्पण करने वाली मृगनयनियों की कौन-सी वस्तु सुन्दर नहीं होती ? उनका तो सभी कुछ रमणीय होता है जैसे—मुख पर मन्दहास कुछ विशेष रमणीय ही होता है। दर्शन-सम्पति [नयनों की कान्ति अथवा देखने का ढंग] सरल एवं चञ्चल होता है। भाषण की शैली विलासयुक्त एवं माधुर्य से परिपूर्ण होती है। गतियों [चालों] का उपक्रम मन्द एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक लीलाओं से सम्बन्ध रखता है।

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः।
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥७॥

इस संसार में नव-यौवनावस्था के समय रसिकों को दर्शनीय वस्तुओं में उत्तम क्या है ? मृगनयनी का प्रेम से प्रसन्न मुख। सूँघने योग्य वस्तुओं में क्या उत्तम है ? उसके मुख का सुगन्धित पवन। श्रवण योग्य वस्तुओं में उत्तम क्या है ? स्त्रियों के मधुर वचन। स्वादिष्ट वस्तुओं में उत्तम क्या है ? स्त्रियों के पल्लव के समान अधर ओष्ठ का मधुर रस [अधरामृत का पान]। स्पर्श योग्य वस्तुओं में उत्तम क्या है ? उसका कुसुम-सुकुमार कोमल शरीर। ध्यान करने योग्य उत्तम वस्तु क्या है ? सदा या सर्वत्र विलासिनियों [का] यौवन-विलास।

एताः—स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झङ्कारनूपुर-पराजितराजहंसस्यः।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥८॥

गति [चाल] की विचित्रता से ऊपर-नीचे होने वाले कङ्कण [चूड़ियाँ] घुँघरुदार करधनी और नूपुरों [पायजेब या बिछुवे] से

उत्पन्न होने वाली ध्वनि से राजहंसनियों की चाल को मात करने वाली ये तरुणियाँ चकित हरिणियों के समान मनोहर नेत्र कटाक्षों से किसके मन को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर लेतीं अर्थात् सभी को अपने अधीन कर लेती हैं।

कुङ्कुमपङ्ककलङ्कितदेहा गौरपयोधरःकम्पितहारा।
नूपुरहंस-रणत्पदपद्मा कं न वशी कुरुते भुवि रामा ॥९॥

केसर और चन्दन से चर्चित सुन्दर अङ्गों वाली, अरुण वर्ण या सुन्दर गोरे स्तनों से गले में पडी हुई मोतियों की माला को कँपाने वाली और कमलरूपी चरणों में शब्दायमान हंसरूपी नूपुरों को धारण करने वाली सुन्दरी इस संसार में किसको वश में नहीं कर लेती? [सभी को वश में कर लेती है।]

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।
याभिर्विलोलतर-तारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥१०॥

जो कवीश्वर सर्वदा कामिनियों को 'अबला' [बलहीन] कहते हैं वे निश्चय ही विपरीत बुद्धि वाले हैं। जिन कामनियों ने अपने अत्यन्त चञ्चल नेत्र के कटाक्षों द्वारा महान् सामर्थ्यशाली इन्द्र आदि को भी जीत लिया उन्हें 'अबला' कैसे कहा जा सकता है?

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः।
यतस्तन्नेत्रसञ्चारसूचितेषु प्रवर्तते ॥११॥

कामदेव निश्चय ही सुन्दर भ्रुकुटी वाली कामिनियों का आज्ञापालक सेवक है तभी तो वह [कामदेव] जिस ओर उसके नेत्र इङ्गित करते हैं उस ओर जाने के लिए सर्वदा उद्यत रहता है अर्थात् जिस ओर वह संकेत करती हैं कामदेव उसीको वशीभूत कर लेते हैं।

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः।

मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वय-
मित्थं तन्वि वपुः प्रशान्तमपि ते क्षोभं करोत्येव नः ॥१२॥

हे सुन्दरि ! तुम्हारे केश संयमी=सुगन्धित तेलों द्वारा संवारे हुए अथवा यम-नियम आदि में संलग्न होने के कारण संयमशील हैं। तुम्हारे नेत्र श्रुति=कान के अन्तिम छोर तक पहुँचे हुए होने के कारण अत्यन्त विशाल हैं अथवा वेद विचार में पारंगत हैं, वेद के मर्मज्ञ हैं। तुम्हारा अन्तर्मुख स्वभावतः शुद्ध द्विज=ब्राह्मण या दाँतों के समूह से सुशोभित है। तुम्हारे दोनों स्तनरूपी घट जीवन-मुक्तों अथवा मोतियों [मोतियों की माला] के सतत निवासस्थान हैं। हे कृशाङ्गि ! इस प्रकार वैराग्य के साधनों से पूर्ण अथवा प्रसन्न भी तुम्हारा शरीर हम लोगों को विरागी नहीं बनाता अपितु अनुरागी ही बनाता है।

विशेषः—इस श्लोक में दो श्लेषालंकार हैं।

श्लोक का भाव यह है—हे कृशाङ्गि ! जब तुम्हारे शरीर पर संयमी (केश) श्रुति (कान) शुचि (मुख) द्विज (दाँत) मुक्ता (कुच) उपस्थित है तो फिर विरक्त पुरुषों पर भी अनुराग उत्पन्न क्यों न हो ?

मुग्धे धानुष्मता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यदाहरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥

हे सुन्दरि ! तुममें धनुर्विद्या का कौनसा अपूर्व गुण है जिसके द्वारा तुम तरुणों के हृदयों को गुणों=डोरी द्वारा ही वेध डालती हो, बाणों की तुम्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

विशेषः—यहाँ 'गुण' शब्द में श्लेष है। गुण के दो अर्थ हैं ? १. प्रत्यञ्चा, डोरी और २. चतुराई।

धनुर्धारी तो बाणों को धनुष पर चढ़ाकर उनके द्वारा दूसरों को वेधा करते हैं परन्तु तुम अपने गुण—चतुरतारूपी प्रत्यञ्चा से ही दूसरों के हृदयों को वेध डालती हो। यह तेरा विचित्र चरित्र है।

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ।।१४।।

दीपक, अग्नि, तारा-समूह, सूर्य और चन्द्रमा के रहते हुए भी हिरण के बच्चे के समान चञ्चल नेत्रों वाली सुन्दरी के बिना मुझे यह सारा संसार अन्धकारमय प्रतीत हो रहा है अर्थात् उसके बिना सब कुछ शून्य-सा लगता है।

उदवृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।
सौभाग्याक्षरपंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावलिः केन सा ।।१५।।

तुम्हारे ये उभरे हुए और गोल कुच, विलास से चञ्चल नेत्र, टेढ़ी भौहें और नवीन पत्तों की भाँति लाल तुम्हारे अधर-ओष्ठ यदि रसिकों को पीड़ित करते हैं तो करें परन्तु कामदेव के हाथों से लिखी सौभाग्य अक्षरों की पंक्ति के समान भासमान यह रोम-राजि [रोमावली] किस कारण से मध्य प्रदेश अथवा मध्यस्थ [तटस्थ व्यक्ति] को अत्यन्त सन्ताप दे रही है। दुर्जनों का तो दूसरों को कष्ट देना स्वभाव है परन्तु सज्जन क्यों कष्टदायक हो रहा है— यह ज्ञात नहीं होता।

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ।।१६।।

स्तन-भार के कारण देवगुरु बृहस्पति के समान, कान्तिमान होने से सूर्य के तुल्य, चन्द्रमुखी होने से चन्द्रमा के समान और मन्द-मन्द चलने वाले अथवा शनैश्चर-स्वरूप चरणों से शोभित होने के कारण सुन्दरियाँ ग्रह-स्वरूप ही हुआ करती हैं।

तस्याः स्तनौ यदि घनो जघनं विहारि
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम् ।
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ।।१७।।

रे मन ! यदि उस तरुणी के स्तन अत्यन्त पुष्ट और सघन [सटे हुए] हैं, उसकी जंघाएँ मनोहारि एवं विहार करने योग्य हैं, और उसका मुख भी सुन्दर है तो तू क्यों व्याकुल होता है ? यदि तुझे उसे पाने की चाह है तो पुण्य—सत्कर्म कर क्योंकि अभिलाषाएँ बिना पुण्य कर्मों के पूर्ण नहीं होतीं।

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-
मुत स्मरऽमेरविलासिनीनाम् ॥१८॥

हे आर्यो ! ईर्ष्या द्वेष या पक्षपात को त्याग, कर्तव्यकर्म का विचार कर मर्यादा का ध्यान रखते हुए उत्तर दो कि पर्वतों के नितम्ब अर्थात् कटि-प्रदेशों [गुहा, कन्दरा आदि] का आश्रय लेना चाहिए अथवा कामवेग से मुस्काती विलासिनियों के कटिदेश का सेवन करना चाहिए ?

विशेष—इस श्लोक में श्लेषालंकार है। नितम्ब के दो अर्थ हैं...१. पर्वत का मध्यभाग और २. स्त्री का कटि प्रदेश।

श्लोक का भाव यह है कि [वैराग्य पक्ष में] तपस्या करनी हो तो पर्वताश्रय लेना चाहिए और [अनुराग पक्ष में] स्त्री-नितम्ब सेवन करना चाहिए।

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले द्वे गती पण्डितानां
तत्त्वज्ञानामृताम्भःप्लुतलुलितधियां यातु कालःकदाचित्।
नो चेन्मुग्धाङ्गनानां स्तनजघनभराभोगसम्भोगिनीनां
स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलीलोद्यतानाम् ॥१९॥

इस असार एवं चंचल संसार में विद्वानों के लिए दो ही गतियाँ सुलभ हैं। [वैराग्य-अवस्था में] तत्त्वज्ञान रूपी अमृत रस का पान करते हुए अपने समय को व्यतीत करें। यदि ऐसा न हो तो [अनुराग पक्ष में] अपने पुष्ट स्तनों और सघन जघनों में संभोग की इच्छा वाली सुन्दर स्त्रियों के स्थूल काम-मन्दिर का स्पर्श सुख अनुभव करें।

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा ॥२०॥

मुख चन्द्रकान्तमणि के सदृश, केश इन्द्रनील मणि के तुल्य और हाथ पद्मरागमणि के समान होने के कारण स्त्रियाँ रत्न-स्वरूप ही हैं।

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२१॥

ये सुन्दर नेत्रों वाली रमणियाँ मनुष्यों के दयायुक्त हृदय में प्रविष्ट होकर उन्हें सम्मोहित करती हैं, मतवाला बना देती हैं, उनका उपहास करती हैं, उनकी भर्त्सना=ताड़ना करती हैं, रमण कराती हैं एवं विरह का विषाद=दुःख भी उत्पन्न कराती हैं—ये क्या नहीं कर डालतीं ?

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां
छायासु तन्वी विचचार काचित्।
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन
निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥२२॥

कोई कृशाङ्गी वन की छाया में विश्राम लेती हुई और अपने स्तनों पर पड़े हुए आँचल को हाथों से ऊपर उठाकर, उससे विरही को सन्तापदायक चन्द्रमा की किरणों का निवारण करती हुई अपने प्रिय से मिलने गई।

स्त्रीणामविश्लेषणम्

अदर्शने दर्शनमात्रकामा
दृष्ट्वा परिष्वङ्गरसैकलोलाः।
आलिङ्गितायाः पुनरायताक्ष्या-
राशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥२३॥

जब तक स्त्री दिखाई नहीं देती तब तक तो देखने की इच्छा रहती है, देखने के पश्चात् आलिङ्गन रस की इच्छा उत्पन्न हो जाती है और आलिङ्गन करने पर यह इच्छा होती है कि प्राण-प्यारी हम से कभी अलग न हो।

मालतीशिरसि जृम्भणोन्मुखी
चन्दनं वपुषि कुङ्कुमान्वितम्।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा
स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः ॥२४॥

शिर में गुंथी हुई मालती की कलियों की सुन्दर पुष्प-माला, अलस-युक्त सुन्दर मुख, शरीर पर सुगन्धित केसरयुक्त चन्दन— यदि ऐसी सुन्दर प्रियतमा वक्षस्थल से लगी हुई हो तो समझना चाहिए कि स्वर्ग का शेष सुख भी यहीं आ गया है। [मुख्य स्वग तो यही है शास्त्रोक्त स्वर्ग तो अज्ञात होने से गौण है]

प्राङ् मा मेति मनागनागतरसं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनु श्लथोद्यतमनुप्रध्वस्तधैर्यं पुनः।
प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहः क्रीडाप्रगल्भं ततो
निःशङ्काङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥२५॥

निश्चय ही कुलीन-स्त्रियों की रति ही उत्तम है क्योंकि आरम्भ में 'नहीं, मत' आदि शब्दों द्वारा अनुराग विशेष न उत्पन्न करने वाला, तदनन्तर उत्पन्न-अभिलाषा वाला, तत्पश्चात् लज्जा-उत्पादक फिर शरीर को शिथिल और धैर्य को नष्ट करने वाला तदनु प्रेमरस में निमग्न करना तत्पश्चात् सराहनीय एकान्त क्रीड़ा का चातुर्य विस्तार करना, फिर निडर होकर अङ्गों को खींच लेना आदि के द्वारा वे अधिक सुखदायक होती हैं।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम्।
सुरतजनितखेदस्विन्नगण्डस्थलीना—
मधरमधुवधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥२६॥

कुछ भाग्यशाली पुरुष ही, पुरुषायित सुरत के समय हृदय पर आरूढ़ होने वाली, सुरत-वेग से बिखरे हुए केश वाली, लज्जा के कारण मीलित [बन्द] नेत्र वाली तथापि उत्सुकतावश अर्धखुली आँखें वाली, मैथुन-श्रम से उत्पन्न स्वेद-बिन्दुओं से आर्द्र गण्डस्थलों [कपोलों] वाली वधुओं के अधर-मधु का पान करते हैं।

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनु संविदं कुरुते ।
मिथुनैर्मिथोऽवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम् ॥२७॥

सुखाधीन होने से अधखुले नयनों वाली स्त्रियों को जो कामरस से तृप्त करना है यही वस्तुतः कामदेव का स्थापन, पूजन या उज्जीवन है—ऐसा रसिक स्त्री-पुरुषों ने आपस में निश्चित किया है ।

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां
यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां
स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२८॥

ब्रह्मा ने यह ठीक नहीं किया कि इस संसार में पुरुषों की वृद्धावस्था में कामदेव के विकार अथवा वासनाएँ उत्पन्न कीं । इसी प्रकार उसने स्त्रियों के लिए भी ऐसा नहीं किया कि जब तक स्तन न ढलें तभी तक जीएँ और काम चेष्टा रखें—यह भी अनुचित और मर्यादा रहित है ।

एतत्कामफलं लोके यद् द्वयोरेकचित्तता ।
अन्यचित्तकृते कामं शवयोरिव सङ्गमः ॥२९॥

सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष दोनों का एक चित्त हो जाना ही काम का वास्तविक फल पाना है । दोनों का चित्त भिन्न-भिन्न विषयों में लगे रहने पर जो रति की जाती है वह तो मानो दो निर्जीव देहों का सम्मिलन है ।

प्रणयमधुराः प्रेमोद्गाढा रसादलसास्तथा
भणितमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः ।
प्रकृतिसुभगा विश्रम्भार्हाः स्मरोदयदायिनो
रहसि किमपि स्वैरालापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥३०॥

प्रेम विशेष से मधुर, स्नेहपूर्ण, रस से भरे, सन्दर्भ विशेष से मृदुल, मोहित करने वाले, हर्ष को जनाने वाले, स्वभावतः सुन्दर, विश्वासपूर्ण, काम को उत्पन्न करने वाले मृगनयनियों के एकान्त में कहे गये स्वच्छन्दतापूर्ण वचन सर्वस्व को हरण कर लेते हैं ।

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापहारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥३१॥

या तो सब प्रकार के पापों को हरने वाली गङ्गा के तट पर रहना चाहिए अथवा मन को हरने वाली, मुक्ताहार से सुन्दर प्रतीत होने वाली तरुणी के कुच-द्वय का सहारा लेना चाहिए ।

विशेष—गंगा में स्नान करने से अथवा उसका जल-पान करने से पाप नहीं धुलते । यदि गंगा के स्नान आदि से पाप धुलने की बात सत्य होती तो गंगा के तट पर रहने वाले वसिष्ठ एवं विश्वामित्र एक-दूसरे के रक्त के प्यासे न बनते ।

प्रियपुरतो युवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभि निर्मलः पवनः ॥३२॥

प्रिय के आगे मानिनी [गर्व करने वाली] युवतियों का मान तभी तक रहता है जब तक चन्दन के वृक्षों से आने के कारण सुगन्धित मलयगिरि का पवन नहीं चलता ।

वसन्त-ऋतु वर्णन

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुरकोटयो
मधुरविरतोत्कण्ठावाचः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।
विरलसुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः
प्रसरति मधौ राज्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥३३॥

वसन्त ऋतु में—उपवन के पुष्पों और मलयचन्दन से सुगन्धित वायु चलती है, आम्रादि वृक्षों की शाखाओं में नये पत्ते निकलते हैं, कोयल आदि पक्षियों की वाणी मधुर एवं प्रिय लगती है, स्त्रियों के मुखचन्द्र रतिश्रम के स्वेद-बिन्दुओं के कणों से सुशोभित होते हैं । वसन्त-ऋतु की रात्रि में किस-किस वस्तु के गुणों की ज्योति प्रकाशित नहीं होती ? सभी वस्तुओं के गुणों का उत्कर्ष होता है ।

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला-
कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः ।

विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो
विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥३४॥

प्रायः सभी को आनन्दित करने वाला ऋतुराज वसन्त [चैत्र और वैशाख] कानों को मधुर प्रतीत होने वाले कोकिलों के मधुर शब्दों से तथा मलयपर्वत से आने वाले पावनों से भी विरहीजनों का वध करता है। अहो ! विपत्ति में अमृत भी विष के समान प्राण लेने वाला हो जाता है।

आवासः किलकिञ्चितस्य दयिताः पार्श्वे विलासालसाः
कर्णे कोकिलकाकलीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः ।
गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैः सेव्याः सितांशोःकराः
केषाञ्चित्सुखयन्ति नेत्रहृदये चैत्रे विचित्राः क्षपाः ॥३५॥

विलास से शिथिल क्रोध, अश्रुपात और हर्ष से युक्त प्राण-प्यारी के साथ रहना, कान से कोकिलों का मधुर स्वर सुनना, अधखिले फूलों वाले लतामण्डप में वास, इने-गिने सत्कवियों की गोष्ठी, चन्द्रमा की चाँदनी में स्नान, ऐसी सामग्रियों से पूर्ण चैत्र की विचित्र रात्रियाँ किसी भाग्यशाली पुरुष के हृदय और नेत्रों को ही आनन्द प्रदान करती हैं।

पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकथामातन्वती मञ्जरी
माकन्देषु पिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते ।
अप्येते नवपाटलाः परिमलप्राग्भारपाटच्चरा
वान्तिक्लान्तिवितानतानवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः ॥३६॥

जिनके पति परदेश में गये हुए हैं ऐसी स्त्रियों की विरहाग्नि में आहुति देने वाली आम्र की पुष्पमञ्जरी को आम वृक्षों पर रहने वाली कोकिलाएँ बड़ी उत्कण्ठा से देख रही हैं। इस वसन्त ऋतु में नवीन गुलाब के फूलों की सुगन्धि रूप सम्पत्ति को चुराने वाली, थकावट को कम करने वाली मलयपर्वत से आने वाली हवाएँ भी विरहिणियों के विरह को बढ़ा रही हैं।

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुरविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥३७॥

जिस वसन्तु ऋतु में आम की पुष्पमञ्जरी की सुगन्धि केसर के समान दिङ्मण्डल में व्याप्त हो रही हो और उसके सुरभिपान से भ्रमर मदमस्त हो रहे हों, ऐसे वसन्त में किस पुरुष अथवा स्त्री को सम्भोग की इच्छा उत्पन्न नहीं होगी ?

ग्रीष्म-ऋतु वर्णन

अच्छार्द्रचन्दनरसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो
धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च ।
मन्दो मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं
ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति ॥३८॥

ग्रीष्म-ऋतु में अत्यन्त स्वच्छ चन्दन के रस से चर्चित आर्द्र हाथ-वाली मृगनयनी युवतियाँ, उत्स [फौव्वारे] से युक्त गृह, सुगन्धित पुष्प, चन्द्रमा की चाँदनी, मृदुल-मन्द समीर और मन को आनन्दित करने वाली अट्टालिकाएँ—ये सब पदार्थ काम तथा मद को बढ़ाते हैं।

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः
परागः कासारो मलयजरजः शीधु विशदम् ।
शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कजदृशो
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥३९॥

मनोहर गन्धवाली मालाएँ, ताड़ के पंखे की हवा, चन्द्रमा की किरणें, कमलों का पराग, सरोवर, चन्दन का चूरा, निर्मल मदिरा, धोकर शुद्ध-पवित्र की हुई ऊँचे भवन की छत, महीन वस्त्र और कमलनयनी सुन्दर स्त्री—इन पदार्थों से ग्रीष्मकाल में भाग्यशाली पुरुष ही सुख पाते हैं।

विशेष—मदिरा पेय पदार्थ नहीं है। वेदादि शास्त्रों में मद्यपान की घोर निन्दा की गई है। इसके पान करने से भाग्यशाली पुरुष भी दीन-हीन और कंगाल हो जाते हैं अतः मदिरा पान उचित नहीं है।

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभि ।

स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणी जने
करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥४०॥

चूने से पोता हुआ श्वेत भवन, निर्मल किरणों से प्रकाशमान चन्द्रमा, प्रिया का मुख-कमल, अत्यन्त सुगन्धित चन्दन का चूर्ण, मन को प्रफुल्लित करने वाली सुगन्धित मालाएँ—ये सब अनुरागी पुरुष के हृदय में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न करते हैं वैरागी=विषय-विमुख पुरुषों के हृदय में नहीं।

वर्षा-ऋतु वर्णन

तरुणी वेषा दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ॥४१॥

कामदेव को उत्तेजित करने वाली, मालती [जुही] के पुष्पों को विकसित करने वाली, उन्नत और पीन पयोधरों से झुकी हुई तरुणी के समान यह वर्षा-ऋतु किसको हर्षित नहीं करती ?

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः।
शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥४२॥

नित्य मेघों से व्याप्त आकाश, नव-अंकुरों से पूर्ण भूमि, नव कुटज [वन्य-पुष्प], कदम्ब के पुष्पों से सुगन्धित वायु, मयूरों की सुन्दर केका की गूँजों से मनोहर, अति रमणीय वन-प्रदेश—ये सभी सुखी या दुःखी सब प्राणियों को उत्कण्ठित करते हैं।

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः।
वसुधा कन्दलधवला दृष्ट्वा पथिकः क्व यातु सन्त्रस्तः ॥४३॥

ऊपर आकाश में घनघोर बादल छा रहे हैं, दाएँ-बाएँ पर्वतों पर मयूर नृत्य कर रहे हैं, नीचे वसुधा दूब तथा ओस-कणों से धवल हो रही है। ऐसी दशा में जबकि चारों ओर विरह को उद्दीप्त करने वाले दृश्य हैं बेचारा पथिक कहाँ जाए और क्या करे ?

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमितः।

इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसाः सम्भृतरसाः ॥४४॥

इधर विद्युत् की चमक है उधर केतकी [केवड़ा] के पुष्पों से उठने वाली सुन्दर सुगन्ध है, एक ओर गगन में मेघों का घनघोर गर्जन हो रहा है,दूसरी ओर मयूरों की क्रीड़ा के कोलाहल से दिशाएँ पूर्ण हो रही है--ऐसी दशा में चञ्चल नेत्रवाली कामिनियों के रसपूर्ण वियोग के दिन कैसे व्यतीत होंगे ?

असूचीसञ्चारे तमसि नभसि प्रौढजलद-
ध्वनिप्राये तस्मिन् पतति दृषदां नीरनिचये।
इदं सौदामिन्याः कनककमनीयं विलसितं
मुदं च ग्लानिं च प्रथयति पथिष्वेव सुदृशाम् ॥४५॥

स्वच्छन्दता के साथ कान्त के प्रति अभिसरणशील कामिनियों को मार्ग में अत्यधिक अन्धकार, आकाश में बादलों की घनघोर गर्जना, लगातार ओलों सहित घनघोर वृष्टि और स्वर्ण के समान पीतवर्ण विद्युत् के प्रकाश से हर्ष एवं खिन्नता दोनों का आभास होता है। प्रियतम के भवन का मार्ग दिखाई पड़ने से हर्ष और स्वयं के प्रकाशित हो जाने के भय से दुःख होता है।

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिङ्ग्यते।
जाताः शीतलशीकराश्च मरुतो वान्त्यन्तखेदच्छिदो
धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासङ्गमे ॥४६॥

मूसलाधार वर्षा के कारण प्रियतम महलों से बाहर नहीं जा सकते। उधर शीत से उठने वाली कँपकपी को मिटाने के लिए विशालाक्षी प्रियतमाएँ पति का गाढ़ालिंगन करती हैं। जल-कणों से युक्त शीतल हवाएँ रति-क्रीड़ा से उत्पन्न श्रम को दूर करती हैं—ऐसी वर्षा ऋतु में कुछ भाग्यशाली पुरुषों के दुर्दिन=बुरे दिन अथवा वर्षा के दिन प्रिया-सङ्गम के कारण सुदिन हो जाते हैं।

शरद्-ऋतु वर्णन

अर्द्धं नीत्वा निशायाः सरभससुरतायासखिन्नश्लथाङ्गः
प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते।
सम्भोगक्लान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितं कर्करीतो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं न पिबति सलिलं शारदं मन्दभाग्यः॥४७॥

अर्द्ध-रात्रि तक प्रबल वेगयुक्त रतिश्रम से खिन्न अतः शिथिल अङ्ग, पिपासा से व्याकुल होकर, मद्य के नशे में चूर, महल की छत पर एकान्त में सम्भोग से श्रान्त अपनी प्रियतमा के शिथिल भुजा से उँडेले हुए, चन्द्रमा की चाँदनी के कारण निर्मल और शरद् ऋतु के कारण ठण्डे जल को मन्दभाग्य ही नहीं पाते, भाग्यवान् ऐसे जल को अवश्य पीते हैं।

हेमन्त-ऋतु वर्णन

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रै रतैः।
पीनोरःस्थलकामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते॥४८॥

हेमन्त ऋतु [मार्गशीर्ष और पौष] में दूध, दही और घृत खाने वाले, मजीठ रंग के वस्त्र पहनने वाले, केसर-कस्तूरी युक्त चन्दन से चर्चित गात्र वाले, भाँति-भाँति की रति-क्रीड़ाओं से श्रान्त, गोल और पीन [मोटे-मोटे] कुचों तथा सघन जंघोंवाली कामिनी के साथ आलिङ्गन किये हुए, सुपारी और पान का चर्वण करने वाले कुछ भाग्यवान् पुरुष ही घर के भीतर निवास करते हैं।

शिशिर-ऋतु वर्णन

चुम्बन्तो गण्डभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना
वक्षःसूत्कञ्चुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः।
ऊरूना कम्पयन्तः पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोऽशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितकृतः शैशिरा वान्ति वाताः॥४९॥

कपोल प्रदेशों को चूमने वाले, बालों की अलकों के आ जाने से

सुन्दर मुख में 'सी-सी' की ध्वनि उत्पन्न करने वाले, चोली से रहित छातियों पर पुष्ट कुचों को रोमाञ्चित करने वाले, जंघाओं में कम्पन उत्पन्न करने वाले, विशाल जघनों के प्रदेश से परिधानीय वस्त्रों को ढीला करने वाले—ये शिशिर ऋतु [माघ और फाल्गुन] के पवन स्पष्टरूप से विटों [कामी, लम्पट पुरुषों] की भाँति आचरण करते हैं।

> केशानाकुलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिप-
> न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नुद्वेगकम्पं गतौ।
> वारंवारमुदारसीत्कृतवशाद्दन्तच्छदान्पीडयन्
> प्रायःशैशिर एष सम्प्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ॥५०॥

श्लेषालंकार द्वारा शिशिर-ऋतु और कान्त का वर्णन करते हुए कवि कहता है—केशों को अपने झोंकों अथवा रतिक्रीड़ा से इधर-उधर बखेरता हुआ, दृष्टि को सुख से अथवा पुरुष स्पर्श से निमीलित करता हुआ, साड़ी को वेग से अथवा संभोग की इच्छा से बलात् उठाता हुआ, देह को शीत-स्पर्श अथवा शृंगार की उत्पत्ति से रोमाञ्चित करता हुआ, शरीर के अवयवों में धीरे-धीरे कम्प को प्रकट करता हुआ, सुन्दर अधरोष्ठों को शीत की अधिकता से अथवा दन्तक्षत से बार-बार पीड़ित करता हुआ यह शिशिर ऋतु सम्बन्धी पवन सुन्दरियों के विषय में इस समय कान्त [प्रियतम] के समान व्यवहार कर रहा है।

विषय-प्रशंसा

> असाराः सन्त्येते विरतिविरसायासविषया
> जुगुप्स्यन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति।
> तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियमप्यनिबल-
> स्तदीयोऽनाख्येयःस्फुरति हृदये कोऽपि महिमा ॥५१॥

संसार के सभी विषय-भोग नीरस और कष्टदायक होने के कारण असार हैं और सम्पूर्ण दोषों के भण्डार हैं—ऐसा कहकर भले ही लोग इनकी निन्दा करें परन्तु इनकी महिमा इतनी महान् है कि कहने में

नहीं आती क्योंकि ये विद्वानों का ध्यान भी बरबस अपनी ओर खेंच लेते हैं।

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः।
तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमधिकं
न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशोरन्यमपरम् ॥५२॥

आप वेदान्त शिरोमणियों के पूज्य शिक्षक हैं और हम विचित्र कामशास्त्र विनोदी कवियों के दास हैं तथापि हमारी यह धारणा है कि [वैराग्य पक्ष में] परोपकार से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है और [अनुराग पक्ष में] इस संसार में कमलनयनियों से बढ़कर कोई सुन्दर वस्तु नहीं है।

विशेष—सन्त तुलसीदास ने कहा है—

परहित सरस धर्म नहि भाई।
परपीड़ा सम नहि अधमाई॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम्।
अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥५३॥

यहाँ युक्तिशून्य बहुत-से अनर्थकारी वचनों के कहने से क्या लाभ? इस संसार में पुरुषों को केवल दो ही वस्तुएँ सर्वदा सेवन करने योग्य हैं—[अनुराग पक्ष में] नवीन मदलीला अर्थात् कामवेग-जन्य विलासों में अत्यन्त आसक्त और पीन स्तनों के भार से परि-श्रान्त सुन्दरियों का यौवन अथवा [वैराग्य पक्ष में] घनघोर वन।

दुर्विरक्त-वर्णन

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाता—
ल्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत्।
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो
दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥५४॥

हे सज्जनो ! मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी पक्षपात नहीं है। सभी लोकों में यह बात सत्य है कि [अनुराग पक्ष में] नितम्बनियों से बढ़कर इस संसार में और कोई पदार्थ सुन्दर एवं मनोहर नहीं है। साथ ही [वैराग्य पक्ष में] उनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु दुःख का कारण भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुख और दुःख दोनों का कारण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सुन्दरियाँ ही हैं।

तावदेव कृतिनामपि स्फुर-
त्येष निर्मलविवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां
ताड्यते चपललोचनाञ्चलैः ॥५५॥

ज्ञानी पुरुषों का शुद्ध विवेक-दीप अर्थात् सदसद्विचार रूप दीपक तभी तक प्रकाशित होता [जलता रहता है] जब तक वे मृगनयनियों के चञ्चल लोचनों के कटाक्षों से विद्ध नहीं होते।

वचसि भवति सङ्गत्यागमुद्दिश्य वार्ता
श्रुतिमुखरमुखानां केवलं पण्डितानाम् ।
जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं
कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥५६॥

निरन्तर वेदाभ्यास में रत विद्वानों की स्त्री-त्याग सम्बन्धी शिक्षा वार्तालाप में ही चलती है [स्त्री-त्याग की शिक्षा कहने मात्र के लिए ही है] अन्यथा कमलनयनियों के पद्मराग नामक रत्न से जड़ी हुई जघन को भला कौन छोड़ सकता है ?

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवतीः ।
यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापि फलं तथाप्सरसः ॥५७॥

शास्त्र रहस्य से शून्य और अपने आपको पण्डित समझने वाला जो व्यक्ति कामिनियों की निन्दा और अपमान करता है वह अपने आप तो ठगा हो गया है, दूसरों को भी ठगता है क्योंकि तपस्या का फल स्वर्ग है और स्वर्ग का फल रम्य अप्सराओं के साथ भोग है।

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥५८॥

इस संसार में मतवाले गजराज के गण्डस्थलों को विदीर्ण करने वाले शूरवीर विद्यमान हैं। क्रोध में भरे हुए अत्यन्य प्रचण्ड सिंह का वध करने में चतुर और समर्थ वीर भी संसार में बहुत हैं परन्तु मैं बलवानों के समक्ष दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि कामदेव के गर्व को खण्डित करने वाला संसार में कोई विरला ही मनुष्य होगा।

विशेष—महावीर हनुमान्, भीष्म पितामह और महर्षि दयानन्द ऐसे बिरले पुरुषों में थे।

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥५९॥

इस लोक में पुरुष तभी तक सन्मार्ग [सदाचरण] में रहता है, अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, लज्जा और विनय को भी तभी तक धारण करता है, जब तक भृकुटिरूपी धनुष से कान तक खींच-कर छोड़े, धैर्य को चुराने वाले, नील या काली बरौनी वाले विला-सिनियों के कटाक्षपातरूपी बाण हृदय पर नहीं गिरते।

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥६०॥

उत्कट प्रेम में उन्मत्त होकर स्त्रियाँ उचित या अनुचित जिस कार्य में जुट जाती हैं उस कार्य से उन्हें रोकने में ब्रह्मा भी असमर्थ होता है अन्य की तो बात ही क्या है ?

तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता।
यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषु पावकः ॥६१॥

मनुष्य का गौरव, विद्वत्ता, कुलीनता और विवेक=सदसद्विचार आदि तभी तक बने रहते हैं जब तक अङ्गों में कामाग्नि प्रज्वलित नहीं होती। कामपीड़ित व्यक्ति अपना मान-सम्मान सब कुछ खो देता है।

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोपि बाढं
संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
ये नैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती
वामाक्षीणां भवति कुटिलभ्रूलता कुञ्चिकेव ॥६२॥

इस संसार में शास्त्रज्ञ, विख्यात विनयशील और आत्मज्ञानी पुरुषों में भी कोई विरला ही सद्गति का पात्र होता है क्योंकि संसार में सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियों की टेढ़ी-टेढ़ी लता के समान भृकुटि नरकपुरी के द्वार के ताले को खोलने वाली कुञ्जी की भाँति होती हैं।

विशेष—आद्य शंकराचार्य ने भी **"द्वारं किमेकं नरकस्य नारी"** कहकर उसे नरक का द्वार बताया है परन्तु वेद में नारी को सिर की पगड़ी के समान सुख देने वाली बताया गया है। अतः उपर्युक्त विचार अयुक्त हैं। यदि नारी पुरुष के लिए नरक का द्वार खोलने वाली कुञ्जी है तो पुरुष नारी के लिए नरक का द्वार खोलने की कुञ्जी क्यों नहीं ?

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥६३॥

खाना न मिलने के कारण दुर्बल, काना, लंगड़ा, कटे कान वाला, बिना पूँछ वाला, घायल अतएव पीब से भरा हुआ और हजारों कृमियों से व्याप्त शरीर वाला, भूख का मारा हुआ, बुढ़ापे के कारण शिथिल, मिट्टी के घड़े का मुँह जिसके गले मे फँसा हुआ है—ऐसा कुत्ता भी मैथुनार्थ कुतिया के पीछे-पीछे दौड़ता है। अहो ! कामदेव सब प्रकार से नष्ट उस कुत्ते और भी मार रहा है।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो स्वर्गादिलोभेच्छया ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥६४॥

जो मूर्ख धर्म, अर्थ, कामरूपी त्रिवर्ग की सम्पत्ति को प्रदान करने वाली कामदेव की सर्वश्रेष्ठ स्त्रीरूपी मुद्रा को त्यागकर स्वर्ग या मोक्ष आदि की अभिलाषा से वानप्रस्थ या संन्यास धारण करते हैं, कामदेव उन्हें दण्ड देकर किसीको दिगम्बर [नंगा] करता है, किसीका सिर मुँडवाता है, किसीके बाल बढ़वाता है, [जटा धारण कराता है] और किसीके हाथ में खप्पड़ देकर भीख मंगवाता है।

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥६५॥

महर्षि विश्वामित्र और पराशर आदि जो पत्ते खाकर, जल पीकर और वायु-भक्षण करके रहते थे, वे भी [मेंनका, सत्यवती आदि] अत्यन्त सुन्दरी स्त्रियों के मुख-कमल को देखकर मोहित हो गये। फिर जो लोग शाली [धान-विशेष] के भात को घी, दूध और दही के साथ सेवन करते हैं वे यदि अपनी इन्द्रियों को वश में कर सकें तो यही कहना पड़ेगा कि विन्ध्य पर्वत समुद्र में तैरने लगे।

स्त्रीपरित्याग प्रशंसा

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभुवनद्वारसेवाकलङ्क-
व्यासङ्गध्वस्त धैर्यंकथममलधियो मानसं संविदध्युः।
यद्येताःप्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेङ्खत्काञ्चीकलापा स्तनभरविनमन्मध्यभागास्तरुण्यः ॥६६॥

उदित चन्द्र की कान्ति की रश्मियों को धारण करने वाली, कमल के समान नेत्रों वाली, घुँघरुओं से युक्त करधनी रूप अलंकार से अलंकृत, स्तनों के भार से झुकने वाले मध्यभाग से सुशोभित सुन्दरियाँ यदि इस संसार में न होतीं तो इस असार संसार में निर्मल बुद्धि के रहते हुए भी धीर लोग दुष्ट राजाओं के यहाँ अपमानित नौकरी करके अपने चित्त को अधीर क्यों बनाते ?

सिद्धाध्यासितकन्दरे हरवृषस्कन्धावगाढद्रुमे
गङ्गाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि।

कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं म्लानं मनस्वी जनो
यद्वित्रस्तकुरङ्गशावनयना न स्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः ॥६७॥

यदि भयभीत हिरन के छौनों [बच्चों] के समान चंचल नेत्र वाली, कामदेव का जगद्विजयी अस्त्ररूपी स्त्रियाँ न होतीं तो फिर सिद्धों से सेवित, शिवजी के वाहन नन्दी के द्वारा भग्न वृक्ष वाले और गंगाजल द्वारा धोई गई हिमालय की चट्टानों पर रहने वाला कौन स्वाभिमानी पुरुष अपने मस्तक को कुत्सित नृपों के चरणों पर प्रणाम द्वारा मलिन अतएव गौरवहीन करता? भाव यह है कि चंचल नयनियों के कारण ही मानी पुरुषों को दुष्ट धनिकों के सामने सिर झुकाना पड़ता है।

संसार ! तव पर्यन्तपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ते मदिरेक्षणाः ॥६८॥

ऐ संसार! तुम्हारा अन्तिम छोर [किनारा] बहुत दूर नहीं है, समीप ही है। यदि मध्य में अशक्य महानदियों की भाँति मदिरा से पूर्ण नयन वाली ये सुन्दरियाँ न होती तो तुझे तर जाना कठिन न होता।

यौवन-प्रशंसा

राजन् ! तृष्णाम्बुराशेर्नहि जगतिगतः कश्चिदेवावसानं
कोवार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे।
गच्छामः सद्म तावद्विकसितनयनेन्दीवरालोकिनीनां
यावच्चाक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥६९॥

हे राजन्! इस लोक में कोई भी पुरुष तृष्णारूपी सागर से पार तो होता नहीं, और अपने शरीर से अनुराग की इच्छा के जनक [उत्पन्न करने वाले] यौवन के व्यतीत हो जाने पर संचित किये हुए बहुत-से धन से भी क्या प्रयोजन? अतः अब हम शीघ्र घर जाते हैं जिससे विकसित नील-कमल के समान नेत्रों से देखने वाली हमारी प्रियतमाओं के रूप-सौन्दर्य को वृद्धावस्था आक्रमण करके हरण न कर ले। [स्त्रियों के यौवन मूलक सौन्दर्य-काल में ही घर जाना] उचित है।

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसम्प्राप्तिहेतु-
र्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य ।
कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति ॥७०॥

अनुराग का घर, शतशः नरकों में मिलने वाली तीव्र पीड़ाओं की प्राप्ति का कारण, महामोह का मूल बीज, ज्ञानरूपी चन्द्रमा को छिपाने के लिए मेघ के सदृश, कामदेव का मुख्य मित्र, नाना प्रकार के दोषों को प्रकट करने वाला, इस संसार में अनर्थों का मूल और निज कुल का दाहक यौवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

शृङ्गारद्रुमनीरदे प्रचुरतः क्रीडारसस्रोतसि
प्रद्युम्नप्रियबान्धवे चतुरतामुक्ताफलोदन्वति ।
तन्वीनेत्रचकोरपारणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ
धन्यःकोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥७१॥

शृंगाररूपी वृक्षों को मेघ के समान सींचने वाले, क्रीड़ा-रस का महान् स्रोत, कन्दर्प के प्रिय बन्धु [कामदेव के सहायक] चतुर्तापूर्ण वचनरूपी मुक्ताओं के लिए आधारभूत समुद्रस्वरूप, विलासिनियों के नयनरूपी चकोरों के लिए पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आह्लादक, सौन्दर्य-लक्ष्मी के भण्डार—ऐसे नवयौवन को प्राप्त करके भी जो भाग्यशाली काम-विकार को प्राप्त नहीं होता वह धन्य है।

कामिनी निन्दा

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युत्सुकः
पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति जानन्नपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥७२॥

प्रत्यक्ष में अपवित्र स्त्री को देखकर विचारशील विद्वान् भी मोह के वशीभूत होकर—'यह सुन्दरी है, कमल के समान नेत्रों वाली है, पुष्ट और विशाल नितम्बों वाली है, ऊपर उठते हुए पीन और उन्नत कुचों वाली है, कमलमुखी है, सुन्दर भौंहों वाली है'—ऐसा सोचता

हुआ मतवाला हो जाता है, प्रसन्न होता है, रमण करता है और अनेक प्रकार से उसकी स्तुति करता है। अहो! मोह का यह दुर्व्यवहार तो देखो! महान् आश्चर्य है!

विशेष—कवि का नारी को अपवान=अपवित्र कहना अयुक्त है।

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ।।७३।।

जो स्मरण करने पर सन्ताप को बढ़ाती है, दिखाई पड़ने पर काम को बढ़ाती है और उन्मत्त बना देती है तथा स्पर्श करने पर मोहित कर लेती है—ऐसी स्त्रियों को लोग पता नहीं 'प्रिया' क्यों कहते हैं।

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा।
चक्षु:पथादपगता विषादप्यतिरिच्यते ।। ७४ ।।

जब तक स्त्रियाँ आँखों के समक्ष होती हैं तब तक वे अमृत के समान मधुर होती हैं। जब वे आँखों से दूर हो जाती हैं तब वे विष से भी बढ़कर विरह-वेदना पहुँचाने वाली हो जाती हैं।

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ।। ७५ ।।

पृथुल नितम्बों वाली सुन्दरी को छोड़कर, इस संसार में न कोई अमृत है और न कोई विष ही है। यदि वह अनुराग से समीप रहे तो अमृतलता है और स्नेह रहित होकर दूर रहने लगे तो वही विष की वल्लरी=बेल हो जाती है।

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ।। ७६ ।।

संशयों का भँवर, अविनयों [उद्धतता] का घर, साहस के कार्यों का नगर, राग-द्वेषादि दोषों की अक्षय निधि, सैकड़ों छल-कपटों से पूर्ण अविश्वासों का उत्पत्ति स्थान, स्वर्ग-द्वार का विघ्न, नरक-नगरी का मुख्य प्रवेश मार्ग, सब प्रकार की मायाओं का पिटारा, अमृतमय विष

[बाहर से अमृत के समान प्रतीत होने वाली परन्तु अन्दर से विष-रूप] सब प्राणियों के लिए पाश=बन्धनरूप यह स्त्री रूपी यन्त्र किसने निर्मित किया है ?

विशेष—महाराज भर्तृहरि स्त्री द्वारा ठगे गये थे फलस्वरूप उन्होंने स्त्री-जाति के लिए चुन-चुनकर कटु, कठोर एवं अयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। किसी एक स्त्री के दोषों को सारी जाति पर लादना अनुचित है।

सत्यत्वे न शशाङ्क एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-
द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनस्तत्त्वं विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दो जनः सेवते ॥७७॥

प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला चन्द्रमा वास्तव में मृगनयनियों का मुख नहीं बना, न नीले कमल ही उसके दो नेत्र हैं और न उसकी देहलता ही स्वर्ण से बनाई गई है परन्तु कवियों द्वारा बहकाये गये मूर्ख लोग वास्तविक बात को जानते हुए भी त्वचा, मांस और हड्डी से बने कामिनियों के शरीर का सेवन करते हैं।

लीलावतीनां सहजा विलासा—
स्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।
रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्ध
स्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडङ्घ्रिः ॥७८॥

चंचल स्त्रियों की विलास लीलाएँ तो स्वाभाविक हैं परन्तु मूढ़ लोग उन्हें अपने लिए समझकर मन में प्रसन्न होते हैं। जैसे—कम-लिनी की लालिमा स्वाभाविक=जन्म से ही है परन्तु भ्रमर यह समझकर उस पर मुग्ध हो जाता है कि यह ललाई मेरे ही लिए है।

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिवरं
मुखाब्जं तन्वङ्ग्याः किलवसति यत्राधरमधु।
इदं तावत्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसं
व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥७९॥

कृशाङ्गियों का मुख-कमल पूर्णिमा के चन्द्रमा की कान्ति को हरने वाला है तथा इसके अधरोष्ठ में मकरन्द अथवा अमृत रहता

है। यौवनकाल में इसका पान आम्रफलों के समान रसपूर्ण प्रतीत होता है। यौवनकाल बीत जाने पर, वृद्धावस्था में इसका पान मदार [आक] के फल की भाँति आपात मधुर परन्तु परिणाम में कड़वा प्रतीत होता है दूसरे शब्दों में समय व्यतीत हो जाने पर विष की भाँति दुःखदायी हो जाता है।

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम् ॥८०॥

ऊपर उठने वाली त्रिवली रूप तरंगों से पूर्ण, ऊँचे और पुष्ट स्तन-युगल के कारण चक्रवाक पक्षी का जोड़ा जिसमें तैर रहा है, मुख कमल के रूप में शोभित हो रहा है, कुटिल हृदय वाली अथवा चारों ओर से टेढ़े प्रवाहों वाली यह स्त्री-रूपिणी नदी है। ऐ संसार के लोगो ! यदि तुम संसार-सागर में डूबना नहीं चाहते तो शीघ्र ही इसका परित्याग कर दो।

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥८१॥

स्त्रियाँ वार्तालाप तो किसी से करती हैं, हावभाव के साथ देखती किसी और को हैं और हृदय में किसी अन्य से ही मिलने के विषय में सोचती हैं। ऐसी स्थिति में यह पता नहीं लगता कि इनमें स्त्रियों का सबसे अधिक प्रिय कौन है ? अथवा स्त्रियाँ बात किसी से करती हैं, देखती किसी को हैं, हृदय में किसी और का चिन्तन करती हैं फिर स्त्रियों का प्रिय कौन है ? अर्थात् कोई नहीं।

मधु तिष्ठति वाचि योषितां
हृदि हालाहलमेव केवलम्।
अत एव निपीयतेऽधरो
हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥८२॥

कामिनियों की वाणी में मधु रहता है, हृदय में तो केवल हला-हल विष ही रहता है तभी तो अधरामृत का पान किया जाता है

श्रौर हृदय का मुष्टियों से ताड़न करते हैं [कुचों का मर्दन करते हैं]।

> अपसर सखे ! दूरादस्मात्कटाक्षविषानलात्
> प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः ।
> इतरफणिना दष्टाः शक्याश्चिकित्सितुमौषधै-
> श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः ॥८३॥

हे मित्र ! हावभाव, कटाक्षरूप विषाग्निज्वाला वाली, स्वाभावतः कुटिल, विलास के चेष्टारूप फणों को धारण करने वाली इस स्त्रीरूप सर्प से तुम दूर से भाग जाश्रो क्योंकि ग्रन्य सर्पों द्वारा डसा हुश्रा मनुष्य श्रोषधियों द्वारा स्वस्थ श्रौर नीरोग किया जा सकता है परन्तु चतुर स्त्री-रूपी सर्प द्वारा डसे हुए मनुष्य को मन्त्र-तन्त्र जाननें वाले भी छोड़कर भागजाते हैं—ऐसे स्थान पर वे भी कुछ नहीं कर सकते ।

> विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
> स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
> येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-
> मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥८४॥

इस संसार रूपी विकराल समुद्र में कामरूपी मछुवे ने मनुष्यरूपी मछली को फँसाने के लिए स्त्रीरूपी काँटे [वंशी] को फैलाया है। इसके द्वारा वह शीघ्र ही कामिनी के श्रधर रूपी मांस के लिए लालायित मनुष्यरूपी मीनों को खींचकर श्रनुराग श्रग्नि में भूनता है।

> कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
> मा सञ्चर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥८५॥

हे मनरूपी यात्री ! कुचरूप पर्वतों के कारण दुर्गम, कामिनी के शरीररूपी वन की श्रोर मत जा क्योंकि वहां कामदेव रूपी लुटेरा रहता है।

> व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
> नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ।
> दष्टे सन्ति चिकित्सा दिशिदिशि प्रायेण धर्मार्थिनो
> मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य नहि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ॥८६॥

बहुत लम्बे, चञ्चल स्वभाव वाले, टेढ़ी चाल वाले, तेजस्वी, नीलकमल की-सी कान्ति वाले फणधारी सांप से डसा जाना उत्तम है परन्तु कान तक फैले हुए, चञ्चल, टेढ़ी चितवन वाले, अति दिव्य, कृष्ण वर्ण कामिनी के नेत्रों द्वारा डसा जाना ठीक नहीं क्योंकि सर्प-विष के चिकित्सक परोपकारी वैद्य तो प्राय सभी देशों में हैं परन्तु सुन्दरनयनी के कटाक्ष की दृष्टि से क्षण-भर के लिए देखे गये या काटे गये मेरे लिए [मनुष्य के लिए] न कोई वैद्य है और न कोई ओषधि ही है।

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो
ह्यहितकरणदक्षैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥८७॥

श्रोत्रेन्द्रिय-सुखकारी मधुर गान,नेत्रों को आनन्द देने वाला नृत्य, रसना=जिह्व को स्वाद देने वाला अधरामृत, नासिका को आनन्दित करने वाला केसर-कस्तूरी तथा चन्दन का लेपन और त्वचा को सुख पहुँचाने वाला कुचों का स्पर्श—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय कामिनियों में स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इस प्रकार परमार्थ विनाशक अर्थात् विषयासक्त, अपने ही स्वार्थसाधन में तत्पर रहने वाली धूर्त इन पाँचों इन्द्रियों से भूलभुलैया में डाला जाकर मैं पूर्णरूप से ठगा गया हूँ।

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः ।
भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधद्भङ्गमसकृत्
स्मरोपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥८८॥

यह कामदेवरूपी अपस्मार [मिरगी] रोग भ्रम के आवेश में शरीर को बार-बार तोड़ता, दृष्टि को भ्रम में डालकर मन को भटकाता और नेत्रों को घुमाता है। यह रोग मन्त्रसाध्य नहीं, ओषधि द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकता और न सैकड़ों शान्तिकर्मों=शान्तिपाठों से ही नष्ट होता है।

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥८९॥

जन्मान्ध, कुरूप=विकृत आकृति वाले, वृद्धावस्था के कारण जीर्ण सर्वाङ्ग-वाले, ग्रामीण [गँवार अथवा विलासादि से अनभिज्ञ] दुष्ट कुलोत्पन्न और गलित कुष्ट वाले पुरुष को थोड़ा-सा द्रव्य पाने की आशा से अपने सुन्दर शरीर को सौंपने वाली, विवेकरूपी कल्प-लता को काटने वाली छूरी के समान वेश्याओं पर कौन बुद्धिमान् पुरुष अनुरक्त होगा ? [ऐसी बाजारू स्त्रियों पर कोई अनुरक्त नहीं हो सकता]

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥९०॥

यह वेश्या सौन्दर्य रूप ईंधन से प्रज्वलित की गई काम-अग्नि की भयंकर ज्वाला है। कामी पुरुष इस प्रचण्ड ज्वाला में अपने धन और यौवन की आहुतियां दिया करते हैं।

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि।
चारभटचोरचेटकविटनटनिष्ठीवनशरावम् ॥९१॥

वेश्या का अधर यदि सुन्दर है तो भी कौन कुलीन पुरुष उसका चुम्बन करेगा ? क्योंकि वह तो चार [गुप्तचर] भट [सिपाही] चोर, चटेक [स्त्री-पुरुषों को मिलाने वाले दूत] नट [स्वांग बनाने वाले] और विटों [जारों] के थूकने का पात्र है।

सुविचार-प्रशंसा

धन्यास्त एव तरलायतलोचनानां
तारुण्यरूपघनपीनपयोधराणाम्।
क्षामोदरोपरि लसत्त्रिवलीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥९२॥

सुन्दर, चञ्चल एवं विशाल नेत्रों वाली, यौवन के गर्व से अत्यन्त पुष्ट स्तनों वाली, क्षीण, उदर के ऊपर मध्यभाग में त्रिवली लता

से शोभायमान विलासिनियों की आकृति को देखकर भी जिनके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही पुरुष धन्य हैं।

बाले लीलामुकलितममी सुन्दरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥९३॥

हे बाले ! विलास के कारण अध-खुले, सुन्दर नेत्र कटाक्षों को हम पर क्यों गिरा रही हो ? ठहरो, ठहरो, तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि अब हमारा लड़कपन बीत गया और हम कुछ और-से हो रहे हैं। अब हम वन में रहते हैं, हमारा मोह नष्ट हो गया है और साँसारिक प्रपञ्च को हम तृण के समान व्यर्थ समझते हैं।

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल—
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाणव्यतिकर—
ज्वलज्ज्वालाः शान्तास्तदपि न वराकी विरमति ॥९४॥

नीलकमल के पत्तों के सौन्दर्य को चुराने वाली [नीलकमल के पत्तों के सौन्दर्य को लज्जित करने वाली] यह सुन्दरी किस अभिप्राय से मुझ पर अपनी दृष्टि फेंक रही है। इस दृष्टिपात से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि अब हमारा मोह=विषयासक्ति नष्ट हो चुकी है। कामदेवरूपी भील के बाणों से उत्पन्न होने वाले ज्वर का ताप भी शान्त हो गया है फिर भी यह बेचारी उस व्यापार से नहीं रुक रही है।

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमिव स्फीते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यद्दिशो दृश्यताम् ॥९५॥

भव्य-भवन, हावभाव युक्त ललनाएँ और श्वेत छत्रयुक्त लक्ष्मी का भोग [राजभवन के सुख का भोग] तभी तक भोगे जाते हैं जब तक शुभ कर्मों के पुण्यों का योग होता है। जब पुण्य क्षय हो जाता

है तब काम-कलह-क्रीड़ा [कामदेव के युद्ध में, मैथुन में] में टूटी हुई मोतियों की माला के समान सभी सुख सर्वथा लुप्त हो जाते हैं।

यदा योगाभ्यासव्यसनकृशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमु तैः।
प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः
सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाऽऽश्लेषसुरतैः ॥९६॥

जब अष्टाङ्गयोग द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध से निर्मल हुए आत्मा और मन के साथ मनुष्य की निरन्तर मैत्री प्रकाशित होती जाती है तब उस पुण्यात्मा को प्रियाओं के मधुर पारस्परिक सम्भाषणों से, अधरामृत-पान से, चन्द्र-मुखों से, निःश्वासपूर्ण किलोलों और कुच-कलशों के आलिङ्गन से क्या प्रयोजन? [वैरागी को इन सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं।]

विशेष—अष्टाङ्ग योग के आठ अङ्ग ये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि।

किं कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितं
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥९७॥

अरे कामदेव! धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार-ध्वनियों से तुम अपने हाथों को क्यों व्यर्थ कष्ट दे रहे हो? अयि कोकिल! कोमल एवं मधुर अपनी 'कुहू' की ध्वनि से तू क्यों व्यर्थ कूक रही है? हे सुन्दरि! अपने प्रेम एवं विलासपूर्ण, सुन्दर, मधुर और चञ्चल कटाक्षपातों को बस रहने ही दे, इनसे अब कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि मेरा मन तो अब शिवजी के चरणों के ध्यानरूपी अमृत में लीन हो गया है।

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसञ्चारजनितं
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत्।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनदृशां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥९८॥

जब तक मुझमें कामदेवरूपी तिमिर रोग से उत्पन्न अज्ञान था तब तक मुझे यह सम्पूर्ण संसार नारीमय दिखाई देता था। परन्तु जब हमने विवेकरूपी अञ्जन अपनी आँखों में लगाया तब हमारी दृष्टि सम हो गई और तीनों लोक हमें, ब्रह्ममय दिखाई देने लगे हैं।

वैराग्ये सञ्चरत्येको नीतौ भ्रमति चापरः।
शृङ्गारे रमते कश्चिद् भुवि भेदाः परस्परम् ॥९९॥

कोई तो वैराग्य में विचरण करता है, कोई नीति में भ्रमण करता है, तो कोई शृंङ्गार में रमता है। संसार में लोगों में परस्पर भिन्नता है ही।

यद्यस्य नास्ति रुचिरं तस्मिंस्तस्य स्पृहा मनोज्ञेऽपि।
रमणीयेऽपि सुधांशौ न मनः कामाः सरोजिन्यः ॥१००॥

जिसके लिए जो रुचिकर नहीं होता मनोहर होने पर भी उसमें उसका अनुराग नहीं होता जैसे चन्द्रमा के रमणीय होने पर भी कमलिनियों को वह प्रिय नहीं लगता, उसे देखकर वे विकसित नहीं होतीं।

इति शृङ्गारशतकम्

वैराग्यशतकम्

मङ्गलाचरणम्

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयं
श्चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥१॥

मस्तक पर भूषणरूप प्रतीत होने वाले चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान देदीप्यमान शिखा से प्रकाशमान, सहज स्वभाव से ही कामदेवरूपी शलभ [पतङ्ग] को भस्म करने वाले, कल्याण के मार्ग में प्रेरित करने वाले, हृदय में विराजमान मोह-तिमिर का नाश करने वाले, हृदय-मन्दिर के ज्ञानरूपी दीपक, योगियों के हृदय-मन्दिर में विराजमान शिव की जय हो।

विशेष—महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में आधुनिक मङ्गलाचरणों यथा 'शिवाय नमः' 'श्री गणेशाय नमः' इत्यादि वेद और शास्त्र विरुद्ध मङ्गलाचरणों का निषेध किया है। उपर्युक्त मङ्गलाचरण भी इसी प्रकार का है। आर्ष ग्रन्थों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द ही देखने में आता है।

तृष्णादूषण

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

बुद्धिमान् लोग ईर्ष्या ग्रस्त हैं, राजा अथवा धनी लोग धन के मद में मत्त हैं, अन्य लोग अज्ञान से दबे हुए हैं अतः सुभाषित [उत्तम काव्य] शरीर में ही जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं।

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।

महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

मैं संसार में फल की कामना से किये गये पुण्यकर्म को कल्याणकारी नहीं समझता क्योंकि पुण्यकर्मों के परिणाम पर विचार करते हुए मुझे भय उत्पन्न होता है कि पुण्यकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए स्वर्ग आदि का उपभोग करके पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार में जन्म लेना और विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। अत्यधिक पुण्यकर्मों के आचरण से प्राप्त विषय [भोग्य-पदार्थ] विषयासक्त पुरुषों को दुःख देने के लिए ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुनामुञ्च माम् ॥४॥

धन-प्राप्ति की आशा से [यहाँ गड़ा हुआ खजाना मिलेगा] मैंने भूमि को खोदा, मैनसिल आदि पर्वत की अनेक धातुओं को स्वर्ण-प्राप्ति की इच्छा से फूँक डाला, मोतियों की प्राप्ति की आशा से समुद्रों को मथ डाला, बड़े प्रयत्न से राजा आदि श्रीमानों को भी सन्तुष्ट किया, सिद्धिदायक मन्त्राराधन में तत्पर होकर श्मशान में भी कितनी ही रात्रियाँ व्यतीत कीं परन्तु मुझे कानी कौड़ी की भी प्राप्ति नहीं हुई। हे तृष्णे ! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़ दे।

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वाजातिकुलाभिमानमुचितं सेवाकृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकव—
त्तृष्णे दुर्मतिपापकर्मनिरते नाऽद्यापि सन्तुष्यसि ॥५॥

अनेक प्रकार के जल, वृक्ष, पर्वतादि दुर्गों के कारण दुर्गमनीय देशों=स्थानों का मैंने भ्रमण किया, परन्तु कुछ भी फल नहीं पाया। जाति और कुल का अभिमान छोड़कर श्रीमानों की सेवा की परन्तु सब व्यर्थ। अपने मान-सम्मान को तिलाञ्जलि देकर दूसरों के घर

पर लोभवश कव्वे के समान भोजन करता रहा, इतने पर भी, पाप कर्म में प्रवृत्त करने वाली तृष्णे ! तू सन्तुष्ट नहीं हुई।

खलालापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-
र्निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा।
कृतो वित्तस्तम्भप्रतिहतधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥६॥

खलों की सेवा करते हुए हम नित्य उन दुष्टों के दुर्वचनों को सहते रहे क्योंकि ऐसा न करने से अपना कार्य बिगड़ता। उन्हें देखकर अपने आँसुओं को मन के भीतर रोकर [आँसुओं की घूँट पीकर] हम उदास मन से हँसते भी रहे। धन के कारण जड़ और कर्तव्यविमुख बुद्धिवाले लोगों के समक्ष हाथ भी जोड़े [उन्हें प्रणाम किया]। हे व्यर्थ आशा वाली तृष्णे ! भला इससे बढ़कर तू मुझे और क्यों नचा रही है ? अब तो बस कर।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

सूर्य के उदय और अस्त होने के साथ-साथ प्रतिदिन आयु भी घटती जाती है। बहुत-से देह-गेह सम्बन्धी कार्यों से [जीवनोपाय के उद्योगों से] समय के व्यतीत होने का ज्ञान ही नहीं होता। जन्म, जरा, कष्ट और मृत्यु को देखकर भी मनुष्य को भय उत्पन्न नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि सारा जगत् [संसार के सभी प्राणी] मोहरूपी मदिरा का पान करके मतवाला हो रहा है। सब कुछ देख-सुनकर भी मनुष्य सावधान एवं सजग नहीं होता।

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी।
याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदलसत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥८॥

दीन—निस्तेज मुख वाले, भूखे अतएव विलाप करने वाले छोटे-

छोटे बच्चों द्वारा सदा ही जिसका-जीर्ण-शीर्ण अञ्चल [वस्त्र] खींचा जा रहा है, घर में अन्न के न होने से दुःखी, दीना अर्थात् दरिद्र गृहिणी को यदि न देखना पड़े तो कौन स्वाभिमानी पुरुष अपने जले पेट को भरने के लिए याचना की अस्वीकृति के भय से, भरे हुए गले से टूटे-फूटे और अस्फुट शब्दों में "मुझे दो" ऐसा कहेगा ? स्वाभिमानी पुरुष अपने दीन-हीन बाल-बच्चों और घरवाली की दुर्दशा को देखकर ही भीख माँगने जैसा घृणित कर्म करता है।

> **निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः**
> **समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः।**
> **शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने**
> **अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥६॥**

सांसारिक विषयों की वासना समाप्त हो गई। लोगों में पहले जो आदर, मान और सम्मान था वह भी कम हो गया। समवयस्क [बराबर की अवस्था वाले] प्राणों के समान प्रिय मित्र भी दुरवस्था भोगने से पूर्व ही स्वर्ग सिधार गये। हम भी लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे उठ पाते हैं, दृष्टि क्षीण हो गई है [हम लगड़े और अन्धे हो गये हैं] फिर भी ज्ञानहीन शरीर मरने की बात सुनकर चौंक पड़ता है। [भाव यह है कि इतना सब कुछ होने पर भी जीवन की इच्छा बनी हुई है।]

> **हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं**
> **व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुजस्तुष्टाः स्थलीशायिनः।**
> **संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां**
> **यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥१०॥**

विधाता ने सर्पों के लिए हिंसा रहित और बिना उद्योग के अनायास मिलने वाला भोजन पवन बनाया है अर्थात् सर्प वायु भक्षण से ही जीवित रहते हैं। गौ आदि पशुओं के लिए कोमल घास ही उनका भोजन है और भूमि उनकी शयन-स्थली है। परन्तु संसार-सागर को लाँघकर पार जाने में समर्थ बुद्धि वाले मनुष्यों की ऐसी वृत्ति बनाई है कि निरन्तर उस जीविका का पता लगाने में मनुष्यों

के सभी गुण समाप्त हो जाते हैं। [भाव यह है कि योगियों को अहिंसक वृत्ति द्वारा, अनायास प्राप्त वस्तु से प्रसन्न रहकर, कहीं भी निवास करते हुए सांसारिक चक्कर में डालने वाले रजोगुण और तमोगुण से दूर रहकर सदा आत्मानुसन्धान में संलग्न रहना चाहिए।]

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नाऽऽलिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

सांसारिक आवागमन से छुटकारा पाने [मोक्ष-प्राप्ति] के लिए जिसने शास्त्रानुसार परमात्मा के चरणों का आराधन नहीं किया, स्वर्ग के द्वार के कपाट खोलने में समर्थ यज्ञादि धर्मों का अनुष्ठान भी नहीं किया और स्वप्न में भी स्त्री के पुष्ट कुचद्वय और जघनों का आलिंगन नहीं किया अर्थात् चार पुरुषार्थों में से धर्म-काम और मोक्ष—तीनों का साधन नहीं किया बस केवल अर्थ उपार्जन में ही संलग्न रहे ऐसे हम लोग माता के यौवनरूपी वन को काटने के लिए कुल्हाड़ी के रूप में ही उत्पन्न हुए। [तात्पर्य यह है कि जो जीवन पर्यन्त 'अर्थ' में ही आसक्त रहा उसने उत्पन्न होकर केवल माता का यौवन ही नष्ट किया।]

विशेषः—वेदादि शास्त्रों में परमात्मा को निराकार कहा है। उसका कोई शरीर नहीं है। जब शरीर ही नहीं है तो हाथ-पैर कैसे हो सकते हैं? अतः परमात्मा के चरणों के आराधन से तात्पर्य प्रभु-उपासना से है।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः[1] ॥१२॥

---

१. इस श्लोक का पद्यानुवाद श्री रावेलालजी त्रिवेदी के मुख से यूँ मुखरित हो उठा है—

हम सांसारिक भोगों का उपभोग नहीं कर पाये अपितु उनको प्राप्त करने की दुश्चिन्ता से हम ही ग्रसे गये। हमने तप नहीं किया प्रत्युत् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध ताप हमें ही सन्तप्त करते रहे। नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए हम काल को नहीं काट पाये, हाँ, स्वयं ही काल कवलित हो गये। इस प्रकार तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई परन्तु हम वृद्ध हो गये।

विशेष—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता'—इस अंश की व्याख्या एक उर्दू कवि के शब्दों में भी पढ़ने योग्य है। लीजिए, रसास्वादन कीजिए—

हजारों ख़्वाहिशें ऐसी कि हर ख़्वाहिश पै दम निकले।
बहुत निकले मेरे अर्मां लेकिन फिर भी कम निकले॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्॥१३॥

क्षमा किया परन्तु अशक्त और असमर्थता के कारण, गृहोचित उत्तम भोजन आदि के सुख को त्याग दिया परन्तु सन्तोष या स्वेच्छा से नहीं अपितु वैसा कर नहीं सकते इस विवशता से, दुःसह शीत, ताप और पवन के क्लेश सहे परन्तु तपस्या के लिए नहीं अपितु आजीविका उपार्जन के लिए, देश-देशान्तर में घूमते हुए ये सब सहे, अपने प्राणों को वश में करके दिन-रात धन का चिन्तन किया परन्तु कल्याणकारी शिव की उपासना नहीं की। इस प्रकार मुनिजन जो-जो कर्म करते हैं वही सब कर्म हमने भी किये किन्तु मुनियों को प्राप्त होने वाले फलों से वञ्चित ही रहे।

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥१४॥

भोगों को क्या भोगा हमने, भोग हमें भुगताय गये।
तपते रहे तपों को हम क्या, तप ही हमको ताय गये॥
रहे सोचते काल काट लें, काल हमें ही काट गया।
तृष्णा तू तो हुई न बूढ़ी, हमें बुढ़ापा चाट गया॥

मुखमण्डल पर झुर्रियाँ पड़ गईं, सिर के बाल श्वेत हो गये, हाथ-पैर आदि शरीर के सब अङ्ग शिथिल हो गये परन्तु तृष्णा अब भी युवा=बलवती होती जा रही है।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१५॥

ये सांसारिक विषय-भोग चिरकाल तक रहकर भी अन्त में छूट ही जायेंगे। यदि मन ने इन भोगों को नहीं छोड़ा तो कभी-न-कभी ये स्वयं छूट जायेंगे। जब इनका छूटना अवश्यम्भावी है तब मनुष्य उन्हें स्वयं ही क्यों नहीं त्याग देता क्योंकि विषयों के स्वयं छूटने से दुःख होगा और जब हम उन्हें त्याग देंगे तब महान् सुख एवं शान्ति की प्राप्ति होगी।

तृष्णा-वर्णन

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वङ्गे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण–
स्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१६॥

विवेक=ज्ञानोदय से शान्ति होने पर विषय-भोग की तृष्णा समाप्त हो जाती है, अन्यथा विषयों का अत्यधिक भोग करने से तो भोग-तृष्णा बलवती होकर बढ़ती ही जाती है। ऐश्वर्य-भोगों को भोगते हुए देवताओं के राजा इन्द्र भी जरा [वृद्धावस्था] से जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं फिर भी वे तृष्णा को त्याग नहीं सकते प्रत्युत् उसके दास बने हुए हैं।

विषय-वर्णन

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥१७॥

भिक्षा तो भोजन है वह भी नीरस और दिन भर में केवल एक बार। सोने के लिए भूमि का बिछौना है। अपना शरीर मात्र ही परिवार है। पहनने-ओढ़ने के लिए वस्त्र के रूप में केवल एक फटी-पुरानी गुदड़ी है जिसमें सैकड़ों पैंवद [थेगलियाँ] लगी हुई हैं। ऐसी दयनीय स्थिति में भी भोग की अभिलाषाओं को नहीं त्यागते। शोक ! महाशोक ! !

स्तनौ मांसग्रन्थी कनकलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्राक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन-
महो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ॥१८॥

भर्तृहरि कामिनी की निन्दा करते हुए कहते हैं—वक्षस्थल पर रहने वाले ये दोनों कुच [स्तन] तो मांस की गाँठें हैं परन्तु कवियों ने उनकी उपमा स्वर्ण-कलश से दी है। मुख कफ और थूक का स्थान है परन्तु उसे चन्द्रमा की उपमा दी गई है। बहने वाले मूत्र से भीगे जघनों को हाथी की सूंड से उपमित किया गया है। आश्चर्य है कुछ विशिष्ट कवियों ने अत्यन्त निन्दनीय कामिनी के रूप को इतना क्यों बढ़ाया-चढ़ाया है।

विशेष:—'शृंगारशतकम्' में स्वयं भर्तृहरिजी ने नारी की बढ़-चढ़ कर प्रशंसा की है परन्तु 'वैराग्यशतकम्' में नारी-निन्दा की पराकाष्ठा कर दी है।

रूप-तिरस्कार

* अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला–
न्न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥१९॥

शलभ=पतङ्गा अग्नि के दाहक स्वभाव को न जानने के कारण दीप-शिखा पर गिरकर अपने प्राण दे देता है। इसी प्रकार मछली भी अज्ञान के कारण वंशी में लगे मांस को खाकर काँटे में फँस जाती है और अपने प्राण गँवा देती है। परन्तु हम मनुष्य लोग जानते हुए

भी विपत्तियों के जटिल जाल [काम-वासनाओं] को नहीं छोड़ते। अहो ! महान् है मोह की महिमा !

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठं वल्कले वाससी च।
नवघनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२०॥

खाने के लिए वृक्षों के फल पर्याप्त हैं, प्यास मिटाने के लिए झरनों का स्वादिष्ट जल भी भरपूर है, सोने के लिए विशाल पृथिवी है और तन ढकने के लिए वल्कल वस्त्र भी बहुत उपलब्ध हैं—ऐसी दशा में अभी-अभी प्राप्त [तुरत मिले] धनरूपी मदिरा के पान से जिनकी सारी इन्द्रियां भ्रान्त अतएव कुमार्गगामी हो रही हैं ऐसे दुष्टजनों की अनादरपूर्ण बातें सुनने को मेरा उत्साह नहीं है।

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥२१॥

प्राचीनकाल में महान् और उदार बुद्धि वाले [राजा हरिश्चन्द्र आदि चक्रवर्ती] सम्राटों ने इस जगत् को सम्पूर्ण धर्माचरणों द्वारा संस्थापित किया। अन्य [ययाति प्रभृति] नरेन्द्रों ने इसका उत्तम प्रकार से पालन-पोषण किया। तथा [बलि आदि] राजाओं ने इस सारे जगत् को जीतकर और फिर इसे तृण के समान तुच्छ समझकर औरों को दान में दे दिया। अब भी अनेक धीर राजाधिराज निर-भिमान होकर चौदह भुवनों का भोग करते हैं। यह सब कुछ जान और देखकर भी कुछ नगरों का प्रभुत्व पाकर यह गर्वरूपी ज्वर किसलिए है ?

निस्पृहा-वर्णन

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।

इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥२२॥

कोई संन्यासी किसी राजा से प्रसङ्ग विशेष में कह रहा है—हे राजन् ! यदि तुम राजा हो—प्रजा को प्रसन्न करने के कारण श्रेष्ठ हो तो हम भी गुरु-चरणों की सेवा द्वारा प्राप्त श्रेष्ठ बुद्धि के अभिमान से समुन्नत हैं [गुरु सेवा द्वारा प्राप्त सद्बुद्धि द्वारा हमारा भी गौरव है ।] धन के कारण तुम्हारी प्रसिद्धि चहुँ ओर है तो कविगण हम लोगों के यश को भी सर्वत्र फैला रहे हैं। ओ अभिमानी ! इस प्रकार हम दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है [तुम धनवान् हो और हम बुद्धि के कारण समानरूप धन वाले हैं।] ऐसी अवस्था में यदि तुम्हारी हमारे ऊपर अश्रद्धा है तो हम भा पूर्ण निस्पृही हैं—तुमसे कुछ नहीं चाहते ।

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥२३॥

सैकड़ों राजागण जिस भूमि का क्षणभर भी उपभोग किये बिना कराल काल के गाल में समा गये, उसी भूमि का राज्य पाकर राजा लोग इतना अभिमान क्यों करते हैं ? इस पृथिवी के अंश-के-अंश और उसके भी अंश का एक तुच्छ भाग पाकर मूर्ख राजा लोग उसे सुखरूप मानकर प्रसन्न हुआ करते है जब कि वस्तुतः उन्हें दुःखी होना चाहिए । [जब बड़े-बड़े राजाधिराज नहीं रहे, वे इस पृथिवी का उपभोग न कर सके तब ये भी न रहेंगे अतः हर्ष किस बात का ?]

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
भोगीकृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां गणैर्भुज्यते ।
ना दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये ॥२४॥

चारों ओर से समुद्र से घिरा यह भूमण्डल मिट्टी का एक बहुत

छोटा-सा गोला है। सैकड़ों राजा लोग युद्धों के द्वारा उसी को अपना-अपना भाग बनाकर उपभोग करते हैं। क्या ऐसे राजा लोग धन देंगे? ऐसे क्षुद्र और दरिद्र राजा लोग दानी होना क्या जानें? और जो लोग ऐसे क्षुद्र और दरिद्रों को महादानी की उपाधि प्रदान कर उनसे चाँदी के टुकड़ों की इच्छा करते हैं उन नीच नरों को बार-बार धिक्कार है।

न नटा न विटा न गायकाः
न च सभ्येतरवादचुञ्चवः।
नृपसद्मनि नाम के वयं
कुचभारोन्नमिता न योषितः ॥२५॥

हम न तो नट हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार का वेष धारणकर विचित्र ढंग से नृत्य करते हैं और न विट हैं जो पर-स्त्रियों के लम्पट होते हैं, न गायक अर्थात् संगीत में निपुण गवैये हैं, न असभ्यों की अश्लीलतापूर्ण बात-चीत करने में प्रसिद्ध हैं और न स्तनों के भार से कुछ झुके अङ्गों वाली स्त्रियाँ ही हैं फिर राज-सभा में हमें पूछता ही कौन है? [राज-दरबार में तो उपर्युक्त पाँच प्रकार के लोगों की ही पूछ होती है और हम उनमें से कोई भी नहीं।]

पुरा विद्वात्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम्।
इदानीं सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा-
नहो कष्टं साऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति ॥२६॥

प्राचीन काल में पण्डित लोग अविद्या आदि पञ्चक्लेशों [दुःखों] को दूर करने के लिए विद्या-अध्ययन करते थे। तदनन्तर कामी पुरुष राजाओं को प्रसन्न करने और उनसे धन प्राप्त कर विषय-भोग करने के लिए पढ़ने लगे। और आजकल राजा लोग भी शास्त्र-श्रवण से विमुख होते जाते हैं जिससे विद्या भी प्रतिदिन अधोगति को प्राप्त होती जाती है—यह बड़े ही खेद का विषय है।

अहंकारी पुरुष के प्रति वचन

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलङ्कारविधये।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥२७॥

प्राचीन समय में कोई ऐसा नररत्न उत्पन्न हुआ जिसके धवल शिर की हड्डी को कामशत्रु [शिवजी] ने भूषण के रूप में अपने सिर पर धारण कर लिया। परन्तु इस समय, अपने प्राणों की रक्षा में बुद्धि लगाने वाले कुछ लोगों से मान-सम्मान और प्रतिष्ठा पाकर मनुष्य अभिमानरूपी ज्वर से ग्रसित हैं।

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः।
सेवन्ते त्वां धनाढ्य मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्थानचेत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि ॥२८॥

कोई संन्यासी किसी राजा से कह रहा है—हे राजन्! तुम अर्थों=धनों के स्वामी हो तो हम भी शास्त्रीय अर्थों=वचनों पर पूर्ण अधिकार रखते हैं, विद्या धन के धनी हैं। यदि तुम शत्रुओं को दमन करने में शूर हो तो, तो प्रतिवादियों के गर्व को शान्त करने की विधि में हम लोगों का भी अक्षय चातुर्य है, अर्थात् यदि तुम शस्त्रार्थ में प्रवीण हो तो हम शास्त्रार्थ करने में वीर हैं। यदि धनिक लोग अपने धन की वृद्धि के लिए तुम्हारी सेवा करते हैं तो शास्त्रीय सिद्धान्तों को सुनने या समझने की इच्छा वाले शिष्यगण बुद्धि की जड़ता का नाश करने के लिए हमारी सेवा करते हैं। यदि हमारे प्रति तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो हमें भी तुमसे कोई सरोकार नहीं है।

निर्ममता के स्वरूप का कथन

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थं प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने।

युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः—
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दनदरीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥२६॥

मान-सम्मान, प्रतिष्ठा के कम होने पर, धन के नष्ट होने पर, याचक के निराश होकर निरर्थक लौट जाने पर, स्त्री-पुत्र और सम्बन्धियों के परलोक सिधार जाने पर, सेवक-वर्ग के चले जाने पर और शनैः-शनैः यौवन के ढल जाने पर बुद्धिमानों को यही उचित है कि वे गङ्गा के जल से पवित्र पत्थर वाले गिरीन्द्र हिमालय की गुहा के आस-पास किसी कुञ्ज में निवास करें। [संसार से नाता तोड़कर आत्मानुसन्धान करें।]

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयं क्लेशकलिलम्।
प्रसन्ने त्वय्यन्तःस्वयमुदितचिन्तामणिगुणो
विमुक्तःसङ्कल्पःकिमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३०॥

हे मन! प्रतिदिन अनेक प्रकार से दूसरों को प्रसन्न करने के लिए घोर कष्ट सहने में क्यों प्रवृत्त होते हो? यदि तुम तृष्णा को त्यागकर अपने हृदय में प्रसन्न हो जाओ [बाहर से मुख मोड़कर भीतर प्रसन्न होने का प्रयत्न करो] तो बिना परिश्रम के ही तुम्हारे हृदय में चिन्तामणि [संकल्प मात्र से ही सारी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला रत्न विशेष] प्रकट हो जायेगी जो तुम्हारी सभी कामनाओं को पूर्ण करेगी और तुम्हें अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

भोग-पद्धति

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥३१॥

विषय-भोगों को भोगने में रोगों का भय है, वंश में आचार भ्रष्टता, जाति-विच्छेद अथवा सन्तान विच्छेद का भय है, धन को समृद्धि में राजा द्वारा छीने जाने का भय है, मौन रहने में दीनता

का, बल में शत्रुओं का, रूप-सौन्दर्य में वृद्धावस्था का, शास्त्र में शुष्कवाद का अथवा प्रतिवादी द्वारा पराजित होने का, गुण में दुष्टों द्वारा व्यर्थ की निन्दा का, शरीर में काल का भय है। इस प्रकार पृथिवी पर सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं केवल एक वैराग्य ही निर्भय है।

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम्।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःशङ्कमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥३२॥

कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल के बिन्दुओं के समान चञ्चल एवं क्षणभङ्गुर इन प्राणों की रक्षा के लिए विवेकहीन हम लोगों ने क्या-क्या नहीं किया ? अर्थात् सभी उचित एवं अनुचित कार्य किये। अपने प्राणों की रक्षा के लिए धन के मद से मदान्ध श्रीमानों के समक्ष, निर्लज्ज होकर हमने अपने गुण-कथन का गुरुतर पाप भी किया।

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च साविदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥३३॥

वह रमणीय नगरी, वह चक्रवर्ती सम्राट्, उसके माँडलिक राजाओं का समूह [राजा की विराट् सभा] तथा प्रसिद्ध विद्वानों की सभा, चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान सुन्दर मुख वाली ललनाएँ, उद्दण्ड राजपुत्रों का समूह, स्तुति करने वाले बन्दीगण, बन्दीजनों के द्वारा कथन की गई उत्तम-उत्तम कथाएँ—जिसकी आधीनता से ये सब वस्तुएँ स्मृति-मात्र रह गई है, उस सब का संहार करने वाले काल को बारम्बार नमस्कार है।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥३४॥

जिन माता-पिता से हमने जन्म लिया था, वे तो बहुत समय हुआ स्वर्ग सिधार गये। जिनके साथ हम बढ़े और खेले वे मित्र भी स्मरण की वस्तु बन गये—वे भी संसार छोड़ गये। इस समय हम लोग भी बालू [रेत] की नदी के तट पर खड़े हुए वृक्षों की भाँति पतन की अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् हमारी दशा "अब गिरे, तब गिरे" की कहावत को चरितार्थ कर रही है।

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते।
इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः काल्या भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ॥३५॥

जिस स्थान पर अथवा घर में पहले अनेक प्राणी थे, वहाँ अब एक ही शेष रहा है। किसी स्थान पर जहाँ पहले एक था, फिर अनेक हुए और अन्त में एक भी नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि दिन-रात रूपी पांसों से कालरूपी जुआरी, संसार रूपी चौपड़ में प्राणियों को गोट बनाकर काली के साथ खेल खेल रहा है। [काल इच्छानुसार प्राणियों को नचा रहा है]

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम्।
पिबामःशास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥३६॥

हम लोग तप करते हुए वैराग्यपूर्वक गङ्गा के तट पर रहें! अथवा सौभाग्य-सुशीलता आदि गुणों से अलंकृत सुन्दर भार्या का सांसारिक धर्म से अनुसरण करें? किंवा शास्त्रों के समूहों का तात्पर्य हृदयङ्गम करें? या काव्यामृत का आस्वादन करें? कुछ समझ में नहीं आता कि इस अल्पकालीन जीवन में हम क्या करें?

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।

किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कन्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥३७॥

गङ्गा के किनारे हिमालय की शिला पर पद्मासन लगाये हुए और ब्रह्मोपासन की क्रिया द्वारा योग-निद्रा=निर्विकल्प समाधि में स्थित मेरे लिए उन दिनों से बढ़कर और सुदिन क्या होंगे जब बूढ़े हरिण स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भय होकर मेरे शरीर से अपने शरीर को खुजाने का आनन्द पायेंगे।

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यादिवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलवाष्पाप्लुतदृशः ॥३८॥

हमारे जीवन में वह शुभ दिन कब आयेगा जब हम पशु-पक्षियों के कोलाहल से रहित—सुनसान रात्रियों में उज्ज्वल चन्द्र-चन्द्रिका से धवल प्रदेश वाले गङ्गा के किसी बालूमय तट पर सुखपूर्वक बैठे हुए संसार के भोगों से अशान्त हुए "शिव, शिव, शिव," इस प्रकार उच्च स्वर से जाप करते हुए मन के भीतर लीन होकर आनन्द के आँसू बहायेंगे। [भाव यह है कि हमारे जीवन में वह सुप्रभात कब आयेगी जब हम स्वात्मानन्द अनुभव करने लगेंगे।]

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्
गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥३९॥

हमारे लिए देवों-के-देव महादेव ही एकमात्र उपासनीय देव हैं, गङ्गा ही एकमात्र सेवनीय नदी है, पर्वतों की गुफाएँ ही सुन्दर घर हैं, दिशाएँ ही भव्य वस्त्र हैं, काल ही मित्र है और निर्भयता एवं अदीनता ही हमारा व्रत है। और क्या कहें नाना प्रकार की सुख-सुविधा पहुँचाने के कारण वट-वृक्ष ही हमारी प्रिया भार्या के रूप में हैं।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्तसुदुस्तराऽविगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥४०॥

इस संसार में आशा नामक एक नदी है। यह नदी मनोरथ [खान-पान, विहार आदि इच्छारूप] जल से परिपूर्ण है। इसमें तृष्णा [अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छारूप] तरङ्गे उठ रही हैं। अभीष्ट पदार्थों के प्रति राग और द्वेषरूपी मगरमच्छों से यह भरी हुई है। तर्क-वितर्क रूपी जल-पक्षियों से यह आकीर्ण है। धैर्य रूपी वृक्षों को यह उखाड़कर फेंकने वाली है। इस नदी में अज्ञान वृत्ति—दर्प-दम्भरूप आवर्त=भँवर पड़ रहे हैं अतः यह पार करने में अत्यन्त दुस्तर है। चिन्तारूपी ऊँचे-ऊँचे इसके तट हैं। इसे पार करना बहुत कठिन है परन्तु शुद्धान्तःकरण योगी लोग इस नदी को पारकर ब्रह्मानन्द में मग्न होकर आनन्दित होते हैं।

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्-
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम् ॥४१॥

हे भाई ! इस संसार के आरम्भ=सर्ग-उत्पत्ति से लेकर हमने तीनों भुवनों [पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक] को मथ डाला परन्तु हमें नेत्रों से देखने की तो बात ही क्या कानों से सुनने में भी ऐसा कोई पुरुष नहीं आया जो विषयरूपी हथिनी में रत, मद से मतवाले अन्तःकरण रूपी हाथी को संयम रूपी रस्सी में बाँधने की लीला करने में समर्थ हो। भाव यह है कि विषयों की ओर से मन को रोकने वाला कोई मनुष्य त्रिभुवन में मिलना तो दूर सुनने में भी नहीं आया।

निर्वेदता के स्वरूप का कथन

ये वर्धन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्यस्तबुद्धे ।

तेषामन्तःस्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥४२॥

हमारे जीवन में वह समय कब आयेगा जब हम ध्यान की समाप्ति पर पर्वत की गुहा के पत्थर रूपी शय्या पर सुखपूर्वक बैठे हुए उन दिनों का स्मरण करते हुए मन-ही-मन में हँसेंगे, जो दिन धनवानों के समक्ष उनकी स्तुति करते हुए युगों के समान और दुःखपूर्ण प्रतीत होते थे तथा विषय-वासना के कारण आकृष्ट विपरीत बुद्धि के कारण जो दिन विषयभोगों में क्षण के समान प्रतीत होते थे।

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रुषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ॥४३॥

निष्कलंक विद्या का अध्ययन नहीं किया, दान एवं भोग के लिए धन का उपार्जन भी नहीं किया। एकाग्रचित्त होकर प्रसन्न मन से माता-पिता की सेवा भी नहीं की। चञ्चल एवं विशाल नेत्रों वाली प्रियतमाओं का स्वप्न में भी आलिंगन नहीं किया। अहो! हमनें तो कौओं की भाँति अपने अमूल्य मानव-जीवन को परान्न-भक्षण के लालच में व्यर्थ ही बिता दिया।

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामावधिगतीः।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरण-
स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥४४॥

अपने सर्वस्व का याचकों को दान करके और अपने हृदय-मन्दिर को करुणा से भरकर तथा संसार को नश्वर एवं गुणों से हीन— अगणित दोषों का आगार समझते हुए हम कब शरद् ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी से आच्छादित रमणीक वन में कल्याणकारी परमात्मा का ध्यान करते हुए अपनी रात्रियाँ व्यतीत करेंगे?

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः।

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥४५॥

हे राजन् ! हम वल्कल वस्त्रों को धारण करके सन्तुष्ट हैं और तुम रेशमी वस्त्र धारण करके प्रसन्न हो—इस प्रकार हम दोनों का सन्तोष तो समान ही है क्योंकि सन्तोष में किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। संसार में दरिद्री वही है जिसकी तृष्णा विशाल है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन निर्धन है और कौन धनवान् ?

विशेष—डेनियल महोदय ने मानो इस पद्य का अनुवाद करते हुए कहा है—

He is not poor that has little, but he that desires much.

वह निर्धन नहीं है जिसके पास थोड़ा धन है वरन् दरिद्र वह है जिसकी अभिलाषाएँ बढ़ी हुई हैं।

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृश-
न्न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥४६॥

स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करना, दीनता के बिना भिक्षा से प्राप्त अन्न अथवा कन्दमूल-फलों का आहार, आर्य=ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुषों के साथ रहना, शान्ति प्रदान करने वाले वेदादि ग्रन्थों का स्वाध्याय अथवा श्रवण करना अन्तर्मुख होने के कारण मन का बाहर के विषयों में न जाना—यह सब किस महान् तपश्चरण का परिणाम है, चिरकाल तक विचार करता हुआ भी मैं जान नहीं पा रहा हूँ।

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशासुदशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिःस्वात्मसंतोषिणास्ते
धन्याःसंन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराःकर्मनिर्मूलयन्ति ॥४७॥

अपना हाथ ही जिनका पवित्र पात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा सम्बन्धी अविनाशी अन्न जिनका भोजन है, दशों दिशाएँ जिनके

विशाल वस्त्र हैं, विस्तृत पृथिवी ही जिनकी शय्या है, सङ्गति का त्याग करने से हृदय में सन्तोष धारण करने वाले, दीनता को त्यागने वाले वे महात्मा धन्य हैं जो अपने त्रिविध कर्मों का समूल नाश करते हैं।

दुराराध्यः स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः।
जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥४८॥

स्वामी अत्यन्त कठिनाई से प्रसन्न होने वाला है, चञ्चल चित्त-वाले राजाओं की आराधना [सेवा द्वारा उन्हें अपने वश में करना] भी अति कठिन है। इधर हमारी विशाल अभिलाषाएँ हैं और उधर मोक्षपद की कामना है तथा जरा—वृद्धावस्था शरीर को जीर्ण कर रही है और मृत्यु जीवन के तन्तु को ही काट रही है—ऐसी अवस्था में हे मित्र ! विद्वान् के लिए जगत् में तपस्या के अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई साधन नहीं है।

भोगामेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥४९॥

हे बुद्धिमानो ! शरीरधारियों के भोग मेघमण्डल में चमकने वाली विद्युत् के समान चञ्चल—शीघ्र नष्ट होने वाले हैं, आयु भी वायु द्वारा कम्पित कमल-पत्र पर पड़ी हुई बूँदों के समान क्षणभङ्गुर है और यौवन की उमङ्ग के कारण उत्पन्न होने वाली वासनाएँ भी अत्यन्त अस्थिर हैं—ऐसा विचार कर धैर्यपूर्वक, चित्त की स्थिरता से प्राप्त होने वाली योगसमाधि द्वारा परमात्मा का ध्यान करो।

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपालिं
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजमुखहुतभुग्धूम्रोपकण्ठम्।
द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणी स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥५०॥

भूख से व्याकुल स्वाभिमानी पुरुष के लिए यह उत्तम है कि वह न्याययुक्त [मीमांसा शास्त्र के सिद्धान्तों और वेदादि शास्त्रों के वेत्ता] ब्राह्मण के द्वारा आहुतियों से पूर्ण अग्नि के धूएँ से लाल-काले भाग वाले पवित्र और बड़े ग्राम या वन में अपने प्राणों की रक्षा और पेटरूपी कन्दरा को भरने के लिए घर-घर जाकर भीख माँगे, परन्तु समान कुल वाले बन्धु-बान्धवों के यहाँ प्रतिदिन दीन बनकर भीख माँगना अच्छा नहीं। [भाव यह है कि शुद्धता से रहने वाले अग्निहोत्रियों के घर से भीख माँगकर खा लेना अच्छा परन्तु अपने भाई-बन्दों में दीनतापूर्वक रहना उचित नहीं।]

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्राऽथ किं तापतः
किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥५१॥

यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण है, या शूद्र है किंवा कोई तपस्वी है? अथवा यह कोई तत्त्ववेत्ता, चतुर बुद्धिवाला कोई योगीश्वर है या कोई धूर्त है? इस प्रकार मन में उठे सन्देहों को कहने में ढीठ लोगों के इस प्रकार तर्क-वितर्क करने से योगीजन न तो क्रोध करते हैं न हर्षित होते हैं [किसी से राग-द्वेष नहीं करते] अपितु अपने पथ पर स्वच्छन्दतापूर्वक चले जाते हैं।

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा
अचिन्वन्तोऽरण्ये मनसि विषयाशीविषगतिम्।
शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयचित्तैकशरणाः ॥५२॥

हे मित्र! जिन पुरुषों के संसार-बन्ध के पाश छिन्न-भिन्न हो गये हैं, जिनके मन भयंकर विषयरूपी सर्पविष से दूषित नहीं हुए हैं, जिनके मन पुण्यों के उपार्जन में संलग्न हैं और चन्द्रमा की चन्द्रिका से धवलित आकाश से सुन्दर लगने वाली जिनकी रात्रियाँ वन के मध्य में व्यतीत होती हैं ऐसे पुरुष धन्य हैं।

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय-
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं
मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥५३॥

हे मन ! अब इन्द्रियों के विषयरूपी वन से विराम लो—इन लौकिक वस्तुओं से मुख मोड़ लो और क्षणभर में ही सम्पूर्ण दुःखों का दलन करने वाले श्रेयमार्ग का अनुसरण करो। शान्तभाव को प्राप्त होकर अपनी चञ्चल गति को त्याग दो। क्षणभङ्गुर संसार की वासनाओं में अनुराग मत करो। हे चित्त ! अब प्रसन्न, स्थिर और शान्त हो जाओ।

पुण्यैर्मूलफलैः प्रियप्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नववल्कलैरकरणैरुत्तिष्ठ यावो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्तव्याधिविवेकविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥५४॥

हे प्रिय चित्त ! उठो, अब वन में चलकर पवित्र कन्दमूलों से अत्यन्त प्रेम करने वाली जीविका चलावें। भूमि पर शयन करें और वल्कल-वस्त्र धारण करें। इस प्रकार सदा वन में विश्राम करें जहाँ अज्ञान के कारण कर्तव्यशून्य हृदय वाले, धनरूपी रोग के विकार से विकल वचन वाले क्षुद्र स्वामियों का नाम भी नहीं सुनाई देता।

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरङ्गिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु च प्रत्ययः ॥५५॥

हे चित्त ! मोह [पुत्र-मित्र आदि विषयक प्रेमरूपी अज्ञान] का त्याग करो। शिवजी कल्याणकारी परमात्मा के चरणों में अनुराग उत्पन्न करो। पवित्र गङ्गा तट की भूमियों में निवास करो। क्योंकि जल की तरङ्गों पर, पानी में उठने वाले बुलबुलों पर, विद्युत् की चमक की भाँति क्षणिक सम्पत्तियों पर, कामिनियों के चपल विलास पर, अग्नि की ज्वालाओं पर सर्पों पर और नदी के प्रवाह पर कैसे

विश्वास किया जा सकता है ? [इन अध्रुव वस्तुओं से मन को हटा कर ध्रुव परमात्मा में लगाओ।]

> **अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः**
> **पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम्।**
> **यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं**
> **नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥५६॥**

आगे संगीत=वीणावादक गायकजन हों और दोनों पार्श्वों में दक्षिण देश के कविगण सरस काव्य सुनाते हों और पीछे की ओर चँवर डुलाने वाली रमणियों के विलासपूर्ण कङ्गन या चूड़ियों की झंकार ध्वनि हो—यदि ऐसा सुख मिले तो सांसारिक भोगों में आसक्त होना चाहिए और यदि ऐसा सम्भव न हो तो हे मन ! निर्विकल्प समाधि में लीन होना चाहिए।

> **विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात्क्षणभङ्गुरा-**
> **त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम्।**
> **न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं**
> **शरणमथ वा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥५७॥**

हे विद्वानो ! स्त्री-संग के क्षणभङ्गुर सुख को त्यागकर, मैत्री, करुणा तथा प्रज्ञारूपी स्त्रियों के साथ रमण करो। क्योंकि नरक में हारों से शोभित स्त्रियों के कुचमण्डल और करधनी से शोभित उनकी कटि तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगी।

> **मातर्लक्ष्मि! भजस्व कञ्चिदपरं मत्कांक्षिणी मा स्म भू-**
> **र्भोगेषु स्पृहयालवो न ही वयं का निःस्पृहाणामसि।**
> **सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-**
> **र्भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥५८॥**

हे माता लक्ष्मी ! अब तू किसी अन्य पुरुष की सेवा कर, मेरी अभिलाषा मत कर क्योंकि हम निस्पृह हो गये हैं अतः हमें विषय-भोग की इच्छा नहीं रही। विषय-भोग में रत पुरुष ही तुम्हारे वश में होते हैं, निस्पृह लोगों की तुम कौन होती हो ? [जो निस्पृह और विरक्त हैं उनके यहाँ लक्ष्मी का अनादर होता है।] हम तो अब

तत्काल बनाये पलाश के पत्ते के दोने में भिक्षा के सत्तू द्वारा अपना पेट भरना चाहते हैं।

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः।
किं जातमधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम् ॥५९॥

हे मित्र ! पहले तो तुम हम थे और हम तुम थे अर्थात् हम-तुम में कोई भेद=अन्तर नहीं था परन्तु पता नहीं अब कौन-सी बात हुई कि अब हम समझते हैं कि हम हमीं हैं और तुम तुम्हीं।

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये।
किं तद्भ्रान्तपतंगपक्षनव्यालोलदीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्यसकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥६०॥

क्या रहने के लिए स्वर्ग के समान रम्य महल नहीं थे ? क्या सुनने के लिए सुन्दर संगीत नहीं थे ? अथवा प्राणों के समान प्रिय प्रियतमा के साथ समागम-सुख प्राप्त नहीं होता था ?—इन सब सुख-साधनों के विद्यमान होने पर भी सन्तजन सकल विषयों को, भ्रान्त पतङ्ग के पंखों से निकलने वाली पवन से कम्पित दीपक के अग्रभाग के समान चञ्चल=नश्वर समझकर अपने कल्याण साधन के लिए वन में चले गये।

किं कन्दाःकन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यःसरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि ॥६१॥

क्या पर्वत की गुहाओं के कन्दमूल-फल नष्ट हो गये ? क्या पर्वतों से झरने वाले निर्झर सूख गये ? क्या सरस फल और वल्कल वस्त्र प्रदान करने वाली वृक्षों की शाखाएँ ध्वस्त हो गई ? हाँ, ऐसा ही प्रतीत होता है क्योंकि कुछ पाने की आशा से उन दुष्टजनों के मुख की ओर निहारना पड़ता है जिनकी भृकुटियाँ बड़ी कठिनाई से प्राप्त थोड़े-से धन की गर्वरूपी पवन से तिरछी हो रही हैं।

गंगातरंगहिमशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥६२॥

गङ्गा की तरङ्गों के शीतल जलकणों से हिम=बर्फ के समान शीतल तथा विद्याधरों [जाति विशेष] द्वारा सेवित सुन्दर चट्टानों वाले हिमालय के वे रमणीय स्थान क्या नष्ट हो गये जो मनुष्य अपमानित होने पर भी दूसरों के टुकड़ों पर निर्वाह करते हैं ?

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥६३॥

जब प्रलय-अग्नि से स्वर्ण आदि अमूल्य रत्नों का भण्डार सुमेरु पर्वत भस्म हो जाता है, बड़े-बड़े मगर और जल-जन्तुओं का घर समुद्र भी उस प्रलयानल से सूख जाता है, पर्वतों से दबी हुई पृथिवी भी नष्ट हो जाती है तब हाथी के बच्चे के कान के अग्रभाग के समान चञ्चल इस शरीर की तो गणना ही क्या है ? यह तो क्षणभङ्गुर ही है ।

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥६४॥

हे शम्भो ! मेरे जीवन में वह समय कब आयेगा जब मैं एकाकी= सङ्ग रहित, विषयाभिलाषा से निवृत्त अतएव शान्त, करपात्री, दिगम्बर=वस्त्र रहित होकर सञ्चित तथा प्रारब्ध कर्मों का मूलोच्छेदन करने में समर्थ होऊँगा ।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥६५॥

नाना प्रकार के व्यापारों से यदि सकल कामनाओं को पूर्ण करने वाली सम्पदाएँ प्राप्त कर लीं तो उससे क्या हुआ ? निज पराक्रम द्वारा यदि शत्रुओं के सिर पर पैर रखा [सभी शत्रुओं को पादाक्रान्त कर लिया] तो इससे क्या ? यदि धन-सम्पत्ति के द्वारा मित्रों का सम्मान किया तो क्या ? तपश्चरण आदि के द्वारा यदि कल्प भर की आयु प्राप्त हो गई तो भी क्या ?—इन सब के द्वारा सच्चा कल्याण सम्भव नहीं है।

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः कि-
मेका भर्या ततः किं हयकरिसुगणैरावृतो वा ततः किम् ।
भक्तं भुक्तं ततः किं कदशनमथवा वातरान्ते ततः किं
व्यक्तं ज्योतिर्नवान्तर्मथितभवभयं वैभवं वा ततः किम् ॥६६॥

पुरानी गुदड़ी ओढ़ी तो उससे क्या ? श्वेत एवं स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण किये तो क्या ? एक ही स्त्री रही तो क्या ? [और यदि मन के अनुकूल अगणित स्त्रियाँ हों तो क्या ?] हाथी-घोड़ों के समूह से घिरा हुआ है तो क्या ? उत्तम भात अथवा सुन्दर व्यञ्जनों का भोजन किया तो क्या ? अथवा सायंकाल का रखा हुआ बासी और कुत्सित अन्न खाया तो क्या ? यदि हृदय-मन्दिर में संसार के भय को दूर करने वाली परमात्म-ज्योति का प्रकाश नहीं हुआ तो इस सारे वैभव का क्या प्रयोजन ? यह सब व्यर्थ है।

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥६७॥

कल्याणकारी परमात्मा में अपार भक्ति हो, हृदय में जन्म-मरण का भय हो, बन्धु-बान्धवों के प्रति मोह न हो, मन में काम के विकार न हों, संसर्ग दोषों से मुक्त हों और निर्जन, एकान्त वनों में वास हो, यदि इस प्रकार वैराग्य उदय हो जाए तो इससे बढ़कर और किस सुख की अभिलाषा की जाए।

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्यं
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥६८॥

जिस ब्रह्म का लेशमात्र आनन्द प्राप्त कर लेने पर त्रिभुवन के सुख निस्सार प्रतीत होते हैं उसी अन्त-रहित, जरा-मरणादिहीन, सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापक अथवा सर्वत्र प्रकाशमान ब्रह्म का ही हे मन! सदा चिन्तन किया कर। व्यर्थ के संकल्प-विकल्प और अहंकार से क्या लाभ?

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मलीनं
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥६९॥

हे चित्त! तू अपनी चञ्चलता से कभी बहुत नीचे पाताल में प्रविष्ट हो जाता है और कभी बहुत ऊँचे आकाश को लाँघ जाता है तो कभी चारों दिशाओं में भ्रमण करता है, परन्तु तू कभी भूलकर भी अपने हृदय-मन्दिर में विराजमान विमल ब्रह्म का ध्यान नहीं करता जिससे तू मोक्ष के परमानन्द को प्राप्त कर सकता है।

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवं विधेनाऽमुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥७०॥

प्राणियों में बुद्धिमान् यद्यपि जानते हैं कि दिन और रात ठीक पहले की भाँति ही हैं फिर भी वे प्रारब्ध को छोड़कर उद्यमशील होकर उन्हीं काम-धन्धों के पीछे दौड़ते हैं जिनके पीछे वे पहले दौड़ते थे। वे लोग बार-बार कहे गये और भोगे गये उन्हीं विषयों में लगे रहते हैं। संसार के लोगों द्वारा निन्दित उन भोगों को भोगते हुए हम अज्ञान के कारण लज्जित नहीं होते, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥७१॥

मुनियों के लिए भूमि ही रमणीय शय्या है, उनकी भुजा ही उनका गुद्‌गुदा तकिया है, आकाश ही उनकी चादर है, अनुकूल वायु ही उनका पंखा है, चन्द्रमा ही उनका जलता हुआ दीपक है, विरक्ति ही उनकी स्त्री है—इन सभी सामानों के साथ मुनिजन सुख के साथ सोते हैं।

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लब्ध्वाशनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥७२॥

ब्रह्मज्ञान के समक्ष तीनों लोकों का आनन्द फीका है। हे आत्मन्! उस ब्रह्म को पाकर तू भोजन, वस्त्र, मान-प्राप्ति और भोगों से प्रेम मत कर। वस्तुतः वही एक नित्य उदीयमान परम भोग है उसका आस्वादन कर लेने पर त्रैलोक्य के राजादि विषय-भोग फीके लगने लगते हैं।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥७३॥

ऋग्वेदादि चारों वेद, मनु आदि स्मृतियों, पुराणों और बड़े-बड़े शास्त्रों को पढ़ने तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होने से स्वर्ग में एक कुटिया का स्थान प्राप्त करने के अतिरिक्त और क्या लाभ है? आत्मानन्द प्राप्ति के लिए ब्रह्मानन्दरूपी गद्दी में प्रविष्ट होने के सिवा, जो संसार बन्धनों को काटने में प्रलयाग्नि के समान है, और सब तो बनियों का व्यापार है।

आयुःकल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभि प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥७४॥

आयु जल की तरङ्गों के समान चञ्चल है, यौवन का सौन्दर्य भी कुछ ही दिन रहने वाला है, धन मन के सङ्कल्पों के समान अस्थिर हैं, भोग वर्षाकाल के मेघों के मध्य में चमकने वाली विद्युत् के समान भ्रम मात्र हैं, प्रिया द्वारा किये गये गाढ़ आलिंगन का सुख भी क्षणिक है अतः हे मनुष्यो ! संसार रूपी सागर से पार उतरने के लिए परमपिता परमात्मा में ध्यान लगाओ ।

ब्रह्माण्डं मण्डलीमात्रं न लोभाय मनस्विनः ।
शफरीस्फुरितेनाब्धेः क्षुब्धता न तु जायते ॥७५॥

जिस प्रकार मछली की उछलकूद से समुद्र कभी भी चञ्चल अथवा तरङ्गित नहीं होता, गम्भीर ही बना रहता इसी प्रकार मनस्वी=विचारशील ब्रह्मज्ञानी अथवा योगी को ब्रह्माण्ड का लालच देकर भी लुभाया नहीं जा सकता, अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या है ।

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमोद्भवसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्पुनः ॥७६॥

चन्द्रमा की किरणें मनोहारिणी हैं, हरी-हरी घास वाली वन की भूमियाँ भी रम्य हैं, साधुओं के समागम का सुख भी आनन्ददायक है, काव्यों की कथाएँ भी मनोरम हैं, प्रणय-कलह में क्रोध से उत्पन्न नेत्र के कोनों में टिकी हुई अश्रु-बिन्दुओं से चञ्चल प्रिया का मुख भी मन को हरने वाला है, परन्तु जब से संसार की अनित्यता का ज्ञान हुआ है तब से हमें ये रम्य और मनोहारी वस्तुएँ भी अच्छी नहीं लगतीं ।

भिक्षाशो जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनैरास्यूतकन्थाधरो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥७७॥

भिक्षा में मिले अन्न को खाकर शरीर को धारण करने वाला, अपने लोगों में रहकर भी उनमें विशेष रुचि न रखने वाला, स्वाधीनतापूर्वक जीवन निर्वाह करने वाला, दान और ग्रहण [लेने-देने] के व्यवहार से पृथक्, व्यर्थ होने के कारण गली में फेंके गये फटे-पुराने वस्त्रों से शरीर ढाँकने वाला, गुदड़ी को मोड़माड़कर बनाये आसन पर बैठने वाला, मान से रहित, अहंकार से दूर, वैराग्य द्वारा चित्त के विकार नष्ट होने से प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द की ही इच्छा करने वाला कोई विरला तपस्वी या योगीश्वर ही होता है।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेष प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीने परब्रह्मणि ॥७८॥

हे माता पृथिवि! हे पिता वायो! हे मित्र अग्ने! हे सुबन्धो जल! हे सहोदर भाई आकाश! अब मैं आपको अन्तिम विदाई का प्रणाम करता हूँ क्योंकि आपकी सङ्गति के कारण मैंने पुण्य-कर्म किये और पुण्यों के फलस्वरूप मुझे निर्मल ज्ञान की प्राप्ति हुई उस ज्ञान द्वारा सांसारिक मोह-माया दूर हो गई जिससे अब मैं परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो रहा हूँ—मुक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥७९॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ और नीरोग है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक सभी इन्द्रियों की शक्ति भरपूर है, जब तक प्राण-

शक्ति क्षीण नहीं हुई है—तभी तक बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने आत्म-कल्याण के लिए महान् प्रयत्न करे अन्यथा घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ होगा ?

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥८०॥

यदि इस संसार में आकर सुहृदयों को आह्लादित करने वाली और वादियों के अभिमान को चूर करने वाली विद्या का अध्ययन नहीं किया, युद्ध में हाथियों के मस्तकों को काटने वाली तलवार की तीक्ष्ण धारों से शत्रुओं को मारकर अपना यश स्वर्ग में नहीं पहुँचाया, चाँदनी रात में कामिनी के कोमल पल्लव के समान अधर के रस का पान भी नहीं किया तो यही कहना पड़ेगा कि निर्जन गृह में दीपक की भाँति यौवन निष्फल ही गया।

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं
केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणम् ।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये
कामातुराणामपि कामकारणम् ॥८१॥

ज्ञान सत्पुरुषों के मान और मद आदि का नाश करता है परन्तु वही ज्ञान दुष्टों के मद और मान आदि अवगुणों की वृद्धि करता है जैसे एकान्त स्थान योग-साधन की स्थली होने के कारण योगियों के लिए तो मुक्ति दिलाने वाला होता है परन्तु वही स्थान कामियों को काम-ज्वाला को बढ़ाने वाला होता है।

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनान्तकांघ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः ॥८२॥

हमारी इच्छाएँ हमारे हृदय में ही जीर्ण हो गईं [मन-की-मन में ही रह गईं], यौवन भी बीत गया। हाय ! गुणग्राहियों के अभाव में हमारे गुण भी हमारे शरीर में ही समाप्त हो गये। बलवान्, असहनशील, कालरूप यम सहसा प्राण लेने के लिए आ पहुँचा है—ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ? हाँ, ध्यान आया अब तो काम-अरि शिवजी के चरण-कमलों को छोड़कर और कोई आश्रय नहीं है। [संसार से त्राण पाने के लिए एकमात्र परमात्मा का ही आश्रय है।]

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सञ्शालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधू
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥८३॥

जब मनुष्य का कण्ठ प्यास से सूखने लगता है तब वह स्वादु और शीतल जल का पान करता है, भूख से सताये जाने पर मनुष्य शाक और स्वादिष्ट शाली चावलों के भात से अपनी क्षुधा-निवृत्ति करता है, कामाग्नि के प्रदीप्त होने पर वह स्त्री का गाढ़ालिंगन करता है। विचार करने से ज्ञात होता है कि जल-पान आदि एक-एक रोग की एक-एक औषध है परन्तु मूर्ख लोग वास्तविक तथ्य को न जानकर इन्हीं में सुख समझने लगते हैं।

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गा सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरणाम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गनाः
मन्यन्ते परमेश्वराः शिरसियैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥८४॥

पर्वत की शिला ही जिनकी शैय्या है, जो पर्वत की गुफा को ही अपना घर समझते हैं, जो वृक्षों की छाल को ही अपने वस्त्र और जंगली हिरनों को ही अपना मित्र मानते हैं, जो वृक्षों के कोमल फलों का भोजन करते हैं, झरनों का जल पीते हैं तथा ब्रह्मविद्या को

ही अपनी प्राण-प्रिया समझते हैं, जिन्होंने हाथ जोड़कर किसीकी सेवा में अपना सिर नहीं झुकाया, मैं उन्हें परमेश्वर=सम्राट् समझता हूँ।

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥८५॥

यह तुमसे मिलने का समय नहीं है, इस समय महाराज एकान्त में कुछ विचार कर रहे हैं, इस समय स्वामी सो रहे हैं, ड्योढी से उठो यदि स्वामी तुम्हें यहाँ बैठा हुआ देखेंगे तो क्रुद्ध होंगे—हे मन! जिनके द्वार पर ऐसी बातें सुनाई देती हैं उन्हें छोड़कर विश्वरेश्वर की शरण में जा जिनके द्वार पर कोई द्वारपाल नहीं अतः वहाँ निर्दय एवं कठोर बातें सुनने को नहीं मिलतीं। उस परमात्मा की शरण अनन्त और नित्य सुख को देने वाली है।

प्रियसख विपद्दण्डव्राततापपरम्परा-
परिचयचले चिन्ताचक्रे विधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥८६॥

हे प्रिय मित्र! कुम्हार जिस प्रकार गीली मिट्टी के लौंदे को चाक पर चढ़ाकर, चाक को डण्डे से बार-बार घुमाता है और उससे अपनी इच्छानुसार बर्तन बनाता है, इसी प्रकार संसार का निर्माण करने वाला ब्रह्मा हमारे चित्त को चिन्ता के चाक पर चढ़ाकर चाक को विपत्तियों के डण्डे से लगातार घुमाता हुआ हमारा क्या करना चाहता है—यह हमारी समझ में नहीं आता।

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥८७॥

चतुर्दश भुवनों के स्वामी शिवजी और ब्रह्माण्ड को उदर में धारण करने वाले विष्णु—इन दोनों में मुझे कोई भेद दिखाई नहीं देता फिर भी मेरी श्रद्धा-भक्ति बाल चन्द्रमा को मस्तक में धारण करने वाले शिवजी में ही है।

कौपीनं शतखण्डजर्ज्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं निद्रा श्मशाने वने।
मित्रामित्रसमानतातिविमला चिन्ताऽथशून्यालये
ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितो योगीसुखं तिष्ठति ॥८८॥

वही योगी सुखी है जो एकदम फटी-पुरानी सैकड़ों चिथड़ों से बनी लंगोट बाँधता है और वैसी ही जीर्ण-शीर्ण गुदड़ी ओढ़ता है, विषय-वासनाओं की चिन्ता जिसके पास नहीं फटकती, जो सहज प्राप्त भिक्षा-अन्न खाता है, जो श्मशान-भूमि या वन में सो रहता है, जो मित्र और शत्रुओं को समान समझता है, जो शून्य झोंपड़ी में ध्यान लगाता है तथा जिसके मद और प्रमाद पूर्ण रूप से नष्ट हो गये हैं।

भोगा भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येह कृतं परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोत्पत्तिवशात् स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥८९॥

ये नाना प्रकार के भोग नाशवान् और संसार-बन्धन [जन्म-मरण, आवागमन] के कारण हैं। अरे अज्ञानी लोगो! भोग-रूपी चक्र में क्यों पड़ते हो? इस चेष्टा से क्या लाभ होगा? कवि कहता है—यदि हमारे वचनों पर श्रद्धा और विश्वास हो तो संसार के आशा-पाशों को तोड़कर और इस प्रकार अपने चित्त को निर्मल बनाते हुए प्रेम के साथ आत्मरूप धाम में अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करने में स्थिर करो। भाव यह है कि भोगों की ओर से विमुख होकर आत्मदर्शन करना ही सर्वोत्तम कार्य है।

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्तिशकुना निःशङ्कमङ्कशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥६०॥

वे योगी लोग धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में रहते हुए ब्रह्म-ज्योति का ध्यान करते हैं और पक्षिगण उनकी गोद में बैठकर उनके आनन्द-अश्रुओं को निर्भय होकर पान करते हैं। हम लोगों का जीवन तो मनोरथों के महल की बावड़ी के किनारे के क्रीड़ा-उद्यान में क्रीड़ा करते [खेलते] हुए व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा है।

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥६१॥

मृत्यु ने जन्म को, वृद्धावस्था ने विद्युत् के समान चञ्चल यौवन को, धन की इच्छा ने सन्तोष को, तरुणियों के हाव-भावों ने शान्ति-सुख को, मत्सरता [पर उत्कर्ष न सहने वालों] ने गुणों को, हिंसक पशुओं ने वन को, दुष्टों ने राजाओं को, अस्थिरता अथवा चञ्चलता ने धनैश्वर्य को आक्रान्त किया हुआ है, ग्रसा हुआ है। सभी पदार्थ एक दूसरे के द्वारा ग्रसे हुए हैं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो किसी-न-किसी चंगुल में फँसा हुआ न हो।

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युःकरोत्यात्मसा-
त्तत्किनामनिरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ॥६२॥

नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक सैकड़ों रोग स्वास्थ्य का नाश कर डालते हैं। जहाँ धन-धान्य एवं सम्पत्ति है वहाँ आप-त्तियाँ द्वार तोड़कर आक्रमण करती हैं। [धनी को आपत्तियाँ घेरे रहती हैं।] प्रारब्धवश पुनः जन्म धारण करने वाले प्रत्येक जीव

को मृत्यु अपना ग्रास बना लेती है—तब संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे निरंकुश विधाता ने सदा स्थायी रहने वाली बनाया है ? संसार में स्थिर कुछ नहीं है।

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने चोपभोगः।
नारीणामप्यवज्ञाविलसितनियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥९३॥

प्रथम अवस्था में प्राणी बिना हिले-डुले, अत्यन्त कष्ट के साथ मल-मूत्र के बीच में अपनी माता के गर्भ में पड़ा रहता है। दूसरी अवस्था यौवन में संभोग-सुख भी कान्ता [स्त्री] के वियोगरूपी दुःख के सम्बन्ध से विकल हो जाता है [यौवन का भोग-विलास प्रिया के विरह के दुःख से दुःसह हो जाता है।] तीसरी अवस्था—बुढ़ापे में कामिनियों से अपमानित होकर दुःख उठाना पड़ता है। हे मनुष्यो ! इस संसार में तनिक-सा भी सुख हो तो हमें बताओ।

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥९४॥

'शतायुर्वै पुरुषः'—के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष है। इसका आधा भाग अर्थात् पचास वर्ष तो सोने में ही चले जाते हैं। उसके आधे का आधा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष का समय बाल्य एवं वृद्धावस्था में व्यतीत हो जाता है। शेष पच्चीस वर्ष का समय रोग, वियोग और आजीविका के लिए धनिकों की सेवा आदि दुःखों में बीत जाता है अतः जल की तरंगों के समान चञ्चल इस जीवन में मनुष्यों को सुख कहाँ ?

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्ज्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
न प्राप्तानि पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्यया
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ॥९५॥

अहो ! ब्रह्मज्ञान के विवेक से विमल-मति ज्ञानी अत्यन्त दुष्कर कर्म करते हैं कि वे उपभोग में आने वाले धनों को भी अत्यन्त निस्पृह होकर त्याग देते हैं। दूसरी ओर हम लोग [साधारण मनुष्य] पूर्वकाल में न मिले हुए, वर्तमान में अप्राप्त और भविष्यत् में भी जिनकी प्राप्ति का पूर्ण विश्वास नहीं, केवल मनोरथों के द्वारा मन में प्राप्ति के लिए निश्चित किये हुए सांसारिक पदार्थों को छोड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं। भाव यह कि ब्रह्मज्ञानी तो प्राप्त वस्तुओं को भी त्याग देते हैं और हम मनः-कल्पित त्रिकाल में भी अप्राप्त वस्तुओं को भी नहीं छोड़ सकते।

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥९६॥

वृद्धावस्था भयङ्कर बाघिनी की भाँति भयभीत करती हुई सामने खड़ी है। रोग शत्रुओं की भाँति शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं। जैसे फूटे घड़े से पानी रिसता है उसी प्रकार आयु भी क्षीण होती जा रही है। अहो ! फिर भी लोग उल्टा ही आचरण करते हैं जिनसे उनका अहित होता है। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !!

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूयते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥९७॥

कवि वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए कहता है—शरीर सिकुड़ गया अथवा झुक गया, चाल धीमी पड़ गई, दाँतों की पंक्ति टूटकर गिर गई। नेत्र-ज्योति क्षीण हो गई, बहरापन बढ़ता जाता है, मुँह से लार टपकती है, बन्धु-बान्धव उसके वचनों का आदर नहीं करते, स्त्री भी सेवा-सुश्रूषा नहीं करती। अहो ! बुढ़ापा अत्यन्त कष्टपूर्ण है इसमें पुत्र भी शत्रु के समान व्यवहार करने लगते हैं।

क्षणं बालो भूत्वाक्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनं क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु—
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीजवनिकाम् ॥९८॥

मनुष्य नाटक के एक्टर [नट-नर्तक] के समान है जो कुछ समय के लिए बालक के रूप में, फिर कामवासनाओं का रसिक तरुण के रूप में, कुछ काल कङ्गाल की भाँति दीन-हीन, कुछ समय धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण होता है। अन्त में झुर्रियों से परिपूर्ण जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था का रूप दिखाकर यमराज की राजधानीरूप यवनिका में प्रविष्ट हो जाता है।

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥९९॥

सर्प में अथवा पुष्प-हार में, बलवान् शत्रु अथवा मित्र में, मणि वा मिट्टी के ढेले में, फूलों की शय्या अथवा पत्थर की शिला में, तृण की पुतली और स्त्रियों में सम दृष्टि रखते हुए किसी रमणीय वन में 'शिव, शिव, शिव'—ऐसा उच्चारण करते हुए मेरे दिन व्यतीत हों, यही अभिलाषा है।

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरङ्गेहिनी
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ॥१००॥

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, शान्ति चिरकाल तक साथ देने वाली स्त्री है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिसकी

भगिनी है, मन का संयम जिसका भाई है, भूमि ही जिसकी शय्या है, दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हैं और ज्ञानामृत का आस्वादन ही जिसका भोजन है—हे मित्र ! भला यह तो बताओ जिस योगी के ये सब कुटुम्बीजन हैं उसे संसार में किससे भय होगा ?

इति वैराग्यशतकम्

आचार्य जगदीश विद्यार्थी कृत
पुस्तकें

स्वर्ण पथ	२००
वाल्मीकि रामायण	१८-००
आदर्श परिवार	४-००
दयानन्द सूक्ति और सुभाषित	४-००
वैदिक प्रश्नोत्तरी	२-००
वेदसौरभ	२-००
वैदिक उदात्त भावनएं	२-००
कुछ करो कुछ बनो	२-००
मर्यादा पुरुषोत्तम राम	२-००
ईशोपनिषद्	२-००
विद्यार्थियों की दिनचर्या	१-५०
दिव्य दयानन्द	१-५०
प्रार्थना प्रकाश	१-२५
प्रभात वन्दन	१-२५
हास्य विनोद	१-००
अथर्ववेदशतकम	१-५०
ऋग्वेदशतकम्	१-५०
यजुर्वेदशतकम्	१-५०
सामवेदशतकम्	१-५०

आर्य प्रकाश पुस्तकालय